गंगा-पुस्तकमाला का १६३वाँ पुष्प

अमृत

[कहानी-संग्रह]

लेखक
श्रीपं० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण' बी० ए०
(कंट्रोल, नवावलटकन आदि पुस्तकों के रचयिता)

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

तृतीयावृत्ति

सजिल्द १।॥)] सं० २००२ वि० [सादी १)

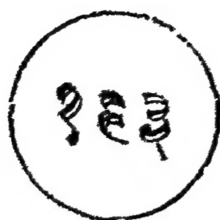
प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, १, जॉन्स्टनगंज, प्रयाग
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ टोली, पटना
५. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
६. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
७. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
८. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मदरास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रे
लखनऊ



अमृत

संपादक

सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता

श्रीदुलारेलाल

(सुधा-संपादक)

भूमिका

(प्रथमावृत्ति पर)

हिंदी के प्रायः सभी अच्छे-अच्छे कवि, लेखक और उपन्यासकार 'सुधा' और 'गंगा-पुस्तकमाला' में हमें सहयोग दे चुके हैं, और उनकी कृतियों को साहित्य-जगत् में यथेष्ट आदर मिल चुका है। आज हम अपने परम वात्सल्य-भाजन 'अरुण' की सर्वप्रथम कृति 'अमृत' साहित्य-संसार की भेंट कर रहे हैं। हमारे 'अरुण' की कविताएँ और कहानियाँ पिछले १४-१५ वर्षों से हिंदी की सर्वोच्च पत्र-पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित होती रही हैं, परंतु अधिकांश में उसकी रचनाएँ प्रकाशित करने का सौभाग्य 'सुधा' को ही प्राप्त हुआ है। 'अरुण' की प्रतिभा, कल्पना, भाषा-प्रवाह, रचना-सौष्ठव, सब कुछ अपनी नवीनता लिए हुए है। वह यथार्थवादी लेखक हैं, और उसकी कला में भारतीय संस्कृति का पूर्ण विकास दिखाई देता है। उसकी कहानियों का आकर्षण सबसे निराला और सुरुचि-पूर्ण है। कवि का हृदय लेकर वह कहानी के मार्ग पर चला है। उसकी गति को स्पर्श करने में किसी कहानी-लेखक की क्षमता नहीं पाई जाती। उसकी लेखनी का एक-एक शब्द सजीव है। हमें विश्वास है, हमारे 'अरुण' की यह कृति हिंदी-संसार में अपना एक नया स्थान बना लेगी। हम हृदय से उसकी उन्नति चाहते हैं। हम शीघ्र ही उसकी और भी कृतियाँ साहित्य-क्षेत्र में उपस्थित करेंगे।

कवि-कुटीर
१।१२।४२



दुलारेलाल
सावित्री



अपने जीवन की उस अन्यतम विभूति को,
जिसने मुझे प्रकाश दिखलाया।

२६, मारवाड़ी गली
लखनऊ
१४।१०।४२

—"अरुण"

कला की कसौटी

[एक]

चित्रकार ने एक चित्र बनाया। संपूर्ण होने पर उसने अपनी कृति देखी—प्रकाश में, छाया में, पास से, दूर से। और, उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो उठा।

उसने सोचा, किसी और को भी दिखाना चाहिए।

उसका एक मित्र था—बाल्यकाल का साथी। एक कवि।

चित्रकार को उसी का ध्यान आया। वह कवि के पास गया। एक टूटी, अँधेरी कोठरी में टूटी हुई चारपाई पर बैठा हुआ कवि कुछ लिख रहा था। उसके चारों ओर लिखे हुए काग़ज़ों का एक ढेर तितर-बितर पड़ा था। अपनी कृति दिखलाकर चित्रकार ने पूछा—

"क्यों ?"

[दो]

उसके बाद चित्रकार की सफलता का समाचार देश के कोने-कोने में फैल गया। कवि ने भी लोगों के मुँह से सुना। उसका हृदय हर्ष से फूल उठा। कवि उसकी प्रशंसा सर्वत्र करता फिरा।

कवि की आत्मा ने भी उस कला के अभिनंदन-रूप काव्य-पंक्तियों का सृजन किया। उस दिन कवि ने अपने मित्र की कला की सराहना में एक कविता लिखी। उदार भावनाओं की सृष्टि का सार-रूप, कल्पना की गति में संगीत की मधुरिमा के साथ प्रवाहित होनेवाली शब्दावली का वह चयन, वाणी का आधार पाकर काव्य-रूप में अवतरित हुआ।

कवि गुनगुनाने लगा—वही कविता।

चित्रकार की कला का शब्द-चित्र इतनी पूर्णता, इतनी भावुकता के साथ प्रस्तुत करने में कवि ने अपने मन की सारी शक्तियाँ लगा दी थीं।

कवि ने सोचा, किसी और को भी सुनाना चाहिए।

सबसे पहले वह चित्रकार के ही पास गया। अपना वैभव—वह सब साज-सजावट—दिखलाते हुए चित्रकार ने कवि से पूछा—

'क्या समझे ?"

चित्रकार के बोलने का ढंग कुछ बदला-सा था। कवि मौन रहा।

किंचित् अभिमान के साथ चित्रकार कह उठा—

"यह मेरी कला का मूल्य है।"

कवि ने जवाब दिया—

"क्यों नहीं।"

उसके बाद कवि ने अपनी कविता सुनाई।

कवि कविता-पाठ कर रहा था, और चित्रकार कुछ अनमना-सा बैठा हुआ तूलिकाओं से खेल रहा था।

कविता समाप्त हुई। कवि ने पूछा—

"क्यों ?"

चित्रकार मानो सोते से जागकर बोला—

"ठीक है, परंतु मेरी कृति में जो कला है, उसे तुम समझ नहीं पाए। वह बहुत ऊँची चीज़ है।"

कवि कुछ कहना चाहता था, परंतु चित्रकार अपने आसन से उठ खड़ा हुआ, और द्वार की ओर देखता हुआ बोला—

"मेरे एक ग्राहक के आने का समय हो गया है अब—"

इतना संकेत कवि के लिये बहुत था। वह उठकर चल दिया। फाटक से बाहर आकर उसने एक बार चित्रकार के कला-भवन की ओर फिरकर देखा, और नीचा सिर करके एक ठंडी साँस ली।

कवि अपने घर की ओर चला। उसकी आत्मा रो रही थी। घर पहुँचते ही उसने अपनी कविता दहकती हुई अँगीठी में डाल दी। क्षण-भर के लिये थोड़ा धुआँ उठा, फिर एक ऊँची

लपट। फिर सब शांत हो गया। केवल जले हुए कागज़ के टुकड़े हवा से उड़कर कोठरी में बिखर गए।

कवि ने अपनी आँखों अपनी कृति का अनादर और अंत देखा। अच्छी तरह देखा। यही उसकी कला का मूल्य था।

[तीन]

अपने पुराने ग्राहक के कहने पर चित्रकार ने बड़े प्रयास से, बहुत दिनों के परिश्रम के बाद, एक चित्र और बनाया। पॉलिशदार स्टैंड पर लगा हुआ वह चित्र चित्रकार की आँखों को बड़ा सुंदर लग रहा था। उसने इधर से, उधर से, सब तरफ़ से घूम-घूमकर चित्र देखा। फिर तूलिका उठाकर इधर-उधर हल्की-हल्की भाव-रेखाएँ बढ़ाई।

फिर देखा—ओह! कितना कला-पूर्ण था वह चित्र!

चित्रकार को याद आया—कवि को दिखानी चाहिए अपनी कृति। वे बीती बातें—जब कवि आया था एक दिन उसके घर—सब भूल गईं। और, चित्रकार कवि के घर पहुँचा।

रोग-ग्रस्त, जीर्ण-काय कवि मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। उसके आस-पास कोई नहीं। केवल उसकी लेखनी और अधलिखे कागज़ उसके अभिन्न सहचर की तरह आस-पास लोट रहे थे। चित्रकार का आहट पाकर कवि ने आँखें खोलीं, और धीरे से कहा—"आओ।"

चित्रकार ने कोठरी का दृश्य देखा। वह घबरा उठा। उसने जल्दी से कहा—

"तुमसे एक काम है। करोगे ?"

कवि ने क्षीण कंठ से उत्तर दिया—

"काम ?"

"हाँ, मुझे मेरे चित्र के लिये दो पंक्तियाँ लिख दो। देखो, यही मेरी नई कृति है।"

बड़े अभिमान से उसने चित्र कवि की आँखों के सामने कर दिया।

कवि ने देखने की चेष्टा की। पर आँखों के दीप बुझ रहे थे। उसने कहा—

"तो कविता चाहिए ?"

चित्रकार व्यग्रता से बोल उठा—

"हाँ, और अभी चाहिए।"

कवि के सूखे हुए चेहरे पर मुस्किराहट आ गई। उसने कहा—

"ऊपर के ताक़ पर कुछ काग़ज़ हैं, उन्हीं में है एक कविता— जिसका शीर्षक है 'अभिशाप'। उसे ही इस चित्र के नीचे लिख लो, तुम्हारा काम हो जायगा।"

चित्रकार ने जल्दी से कविता ढूँढ़ निकाली, और लेकर चल दिया।

उसी रात को—जब चित्रकार अपने चित्र के नीचे कविता की पंक्तियाँ लिख रहा था—उस समय—कवि का मृत शरीर चिता पर रक्खा जा रहा था।

[चार]

कुछ दिन और बीते। एक दिन सवेरे चित्रकार के कला-भवन में राजकुमारी ने प्रवेश किया। चित्रकार ने स्वागत किया। राजकुमारी ने पूछा—

"मेरा चित्र तैयार है?"

उत्तर में चित्रकार ने आवरण हटाकर चित्र की ओर संकेत कर दिया। पास जाकर राजकुमारी बड़ी देर तक चित्र देखती रही। फिर उसके नीचे लिखी हुई काव्य-पंक्तियाँ पढ़कर बोली—

"बहुत घटिया काम है। यह मुझे पसंद नहीं।"

चित्रकार के सिर पर मानो बिजली गिर पड़ी। वह घबराकर बोला—

"मैंने तो कठिन प्रयास किया है राजकुमारीजी! फिर भी मैं इसे पुनः ठीक करूँगा, और अच्छा हो जायगा।"

"हाँ, फिर कोशिश करो। देखो, इसमें सजीवता आनी चाहिए। इसका रंग और भी स्वाभाविक करो।"

चित्रकार ने उत्तर दिया—

"जैसी आज्ञा आपकी।"

"मैं एक महीने बाद आऊँगी, तब दिखाना।"

राजकुमारी चली गई।

चित्रकार फिर परिश्रम करने लगा। दूसरे देश में जाकर वहाँ से बड़ी खोज के बाद नए-नए रंग लाया। महीन-मोटी

तूलिकाएँ लेकर काम करने बैठा। उसका खाना-पीना छूट गया। तन-बदन का होश न रहा। दिन-रात बस काम करता था। एक महीना पूरा हो रहा था। चित्र सुधारकर उसने ठीक कर लिया। नियत दिन पर राजकुमारी आई। चित्र देखा, फिर नापसंद।

बड़े साहस से चित्रकार ने पूछा—

"अब क्या कमी है इसमें ?"

राजकुमारी ने उत्तर दिया—

"तुम तो कलाकार हो, इतना भी नहीं जान सकते ?"

"आप ही बताएँ, आभारी हूँगा।"

"इसमें सजीवता नहीं। इसका रंग असली-जैसा नहीं लगता। गालों पर स्वाभाविक गुलाबी रंग होना चाहिए।"

चित्रकार सोच में पड़ गया।

राजकुमारी ने कहा—

"जो बात तुम्हारे पहले चित्र में थी, वह इसमें नहीं। यह चित्र मुझे जँचा नहीं।"

चित्रकार बोला—

"तो एक बार फिर अवसर दीजिए, और प्रयत्न करूँगा।"

राजकुमारी ने एक महीने बाद आने का वादा किया, और चली गई।

चित्रकार का मन चंचल हो उठा। क्या करना चाहिए ? ग्राहक हाथ से निकला जा रहा था। सारी आशाओं पर पानी

फिर जायगा, अगर उसे सफलता न मिली। सजीवता कहाँ से लाएगा वह चित्र में। और, रंग बिलकुल असली होना चाहिए। बाजार के अच्छे-से-अच्छे, महँगे-से-महँगे रंग उसने लगा डाले थे।

अब तो कोई रंग नहीं मिलता। वह सोच में पड़ गया।

[पाँच]

चित्रकार काम में लगा हुआ था—आत्मा की आहुति देकर तन-मन और प्राणों से।

दिन-रात वह चित्र के आगे बैठा रहता। आँखों को नींद, भूख-प्यास, सब कुछ भूल गया था। शरीर सूखकर काँटा हो गया था। खड़े होने पर आँखों के आगे अँधेरा छा जाता था। जाने कब और कैसे एक महीने की अवधि समाप्त हो गई।

राजकुमारी उसके सामने खड़ी हुई पूछ रही थी—

"तैयार है चित्र ?"

चित्रकार बोल न सका। उसका कंठ रुद्ध हो रहा था। धीरे से उसने चित्र के स्टैंड की ओर संकेत कर दिया।

राजकुमारी ने पास जाकर बड़े ध्यान से चित्र देखा, फिर चित्रकार की ओर।

उसने अपनी मुस्कराहट होठों में छिपाते हुए कहा—

"इसे पूरा कर चुके क्या ?"

चित्रकार आशा से उत्साहित होकर बोल उठा—

"इस बार मैंने इसका रंग असली—एकदम असली—कर दिया है।"

राजकुमारी लौटी, और कहा—

"लेकिन सजीवता नहीं आई चित्र में। इसमें अब भी बहुत कमी है। मैं इसे न खरीद सकूँगी।"

राजकुमारी द्वार की ओर बढ़ी। चित्रकार चिल्ला उठा—

"राजकुमारीजी!"

वह उठकर खड़ा होने लगा। पैर काँप गए।

राजकुमारी द्वार खोलकर बाहर निकल गई। हवा का एक तेज झोंका कमरे में आया। स्टैंड पर से चित्र धड़ाम से नीचे आ गया, और साथ ही चित्रकार भी एक पछाड़ खाकर फ़र्श पर गिर पड़ा।

उसके सीने पर दो इंच लंबा एक घाव था, जिससे रक्त बह रहा था। घाव के किनारों पर पुराना रक्त जमकर सूख गया था।

कितना असली रंग था वह! उसी से चित्रकार ने अपना चित्र रँगा था। हवा का दूसरा झोंका आया। गिरे हुए चित्र का आवरण झूलने लगा।

कवि की लिखी हुई पंक्तियों का शीर्षक दिखलाई देने लगा। लिखा था—

"अभिशाप!"

ग़ुलाम

[एक]

बादशाह नासिरुद्दीन क़ुरान की आयतें नक़ल कर रहे थे।

एकाएक लिखते-लिखते उन्होंने कहा—

"ग़यास !"

ग़यास ने बादशाह की तरफ़ देखा, और बोला—

"हुज़ूरआली !"

नासिरुद्दीन ने क़लम रख दी, और ग़यास की तरफ़ आँखें उठाकर कहा—

"मज़हब की तरक़्क़ी के लिये सवाब और अज़ाब, सभी कुछ जायज़ है न ?"

ग़यास सोचने लगा। नासिरुद्दीन ने फिर कहा—

"क्या ख़याल है तुम्हारा ?"

"और मेरी बेटी बड़ी—बड़ी नटखट है!"

ग़यास उन दोनों की तरफ़ देख-देखकर मुस्करा रहा था। आमिना को यह बहुत भाता था—अपने बेटे गुलुक़ से भी बढ़कर।

[दो]

मसजिद की सीढ़ियों पर—

ग़यास उतर रहा था। सामने से सिपहसालार याक़ूब आ गया। सलाम करके उसने कहा—

"ग़यास! तुमने कुछ सुना?"

ताज्जुब से उसकी तरफ़ देखकर ग़यास ने जवाब दिया—

"नहीं तो बात क्या है?"

"अशरफ़ मिर्ज़ा के साथी लोग भेस बदले हुए आज शहर में दाख़िल हो गए हैं। मैं उनका पता लगा रहा हूँ। ज़रा होशियार रहने की ज़रूरत है।"

ग़यास कुछ सोचने लगा, फिर बोला—

"क्या बादशाह सलामत को इत्तिला दे दी?"

याक़ूब ने जवाब दिया—

"ज़रूरत? ऐसे-ऐसे जुज़ मामलों को बादशाह सलामत क पहुँचाने में अपनी ही वक़त कम होती है। मैंने तो तुमसे यों ही तज़किरा कर दिया। अपने तक ही रखना यह बात, और ज़रा आते-जाते ख़याल रखना, क्योंकि वे लोग हैं ख़तरनाक।"

"गिरफ़्तार क्यों नहीं कर लेते?"

"तुम समझे नहीं ग़यास! गिरफ़्तार करते ही शहर-भर में हंगामा मच जायगा। और, तुम्हें मालूम है कि सूबेदार आसफ़ख़ाँ उनके बड़े हमदर्द हैं। हमारा किया-कराया बेकार हो जायगा, और दुश्मनी मुफ़्त में।"

"फिर कोई दूसरा रास्ता अख़्तियार करो।"

"सोच चुका हूँ। एक-एक करके सबको पकड़ूँगा, और चुप-चाप फतेहाबाद के क़िले में भेज दूँगा। किसी को कानोकान ख़बर न होगी। क्या राय है तुम्हारी ?"

"मैं क्या बताऊँ ? जैसा मुनासिब समझो, करो। ज़रा हाथ-पैर बचाए रहना।"

"अभी देखा जायगा। अच्छा, सलाम वालेकुम।"

"वालेकुमस्सलाम।"

याक़ूब चला गया। ग़यास थोड़ी देर उसकी तरफ़ देखता रहा फिर शाही महल की तरफ़ चल दिया।

महल के दरवाज़े पर—

शाही कोचवान शाहज़ादी की अरबी घोड़ी ज़ीन कसी तैयार लिए खड़ा था। ग़यास ने जाते ही उससे कहा—

"शाहज़ादी को इत्तिला भेज दो।"

"जी हुज़ूर!"

कहकर कोचवान चला गया। थोड़ी देर बाद आमिना भीतर से निकली, और पास आकर बोली—

"चचाजान! आ गए आप ? क्या चल रहे हैं ?"

हाँ-हाँ, आओ बेटी !"

आमिना को घोड़ी पर बिठाकर ग़यास उसके पीछे बैठ गया, और बाज़ार की तरफ़ घोड़ी बढ़ा दी। सदर बाज़ार पारकर वे लोग मेले में दाख़िल हुए। बड़ी भीड़ थी। ग़यास घोड़ी से उतर पड़ा।

वह सन्नाटे की जगह थी—रास्ते के किनारे एक टूटी हुई मसजिद और उसके पास बरगद का एक पुराना दरख़्त। ग़यास ने आमिना को नीचे उतारकर घोड़ी बरगद के दरख़्त से बाँध दी। आमिना को लेकर वह चलना ही चाहता था कि किसी ने उसे पुकारा। ग़यास ने घूमकर देखा—दरख़्त के नीचे एक बूढ़ा फ़क़ीर बैठा उसे बुला रहा था। ग़यास लौटकर फ़क़ीर के पास पहुँचा। फ़क़ीर ने कहा—

"ग़यास ! मुझे पहचानते हो ?"

ग़यास ने ग़ौर से उसकी तरफ़ देखा। बड़े-बड़े बाल और लंबी दाढ़ी के नीचे वह फ़क़ीर को पहचान न सका। उसने जवाब दिया—

"नहीं।"

फ़क़ीर ने चौंककर अपने सिर के बाल पीछे हटाए, और ग़यास से कहा—

"ग़ौर करो, शायद पहचान जाओ।"

ग़यास ने देखा, मगर पहचान न सका। फ़क़ीर अपनी जगह पर उठ खड़ा हुआ, और बोला—

"ग़यास अपने बचपन के साथी अशरफ़ मिर्ज़ा को भले ही भूल जाय, मगर अशरफ़ मिर्ज़ा अपना फ़र्ज़ नहीं भूल सकता।"

ग़यास के एकाएक पसीना आ गया। ख़मोशी से सिर नीचा करके वह कुछ सोचने लगा। फ़क़ीर ने फिर कहा—

"क्या सोच रहे हो ग़यास? रुतबा पाकर आज तुम बड़े आदमी हो गए हो। बादशाह की निगाहों में तुम ऊँचे चढ़े हुए हो, मगर याद रखना, कभी तुम एक मामूली ग़ुलाम थे। तुम्हारी कोई हस्ती न थी। इस रूए-ज़मी पर तुम्हारा अपना कोई न था। महज़ एक ही शख्स—एक ही शख्श ऐसा था, जिसने हमेशा तुम्हारी इमदाद की, तुम्हें भूखों मरने से बचाया, और आज—आज तुम उसे ही भूल गए?"

ग़यास के चेहरे का रंग उड़ गया। उसने कुछ जवाब न दिया। फ़क़ीर ने कहना शुरू किया—

"मगर अशरफ़ मिर्ज़ा तुमसे कुछ नहीं चाहता, तुम्हारी इमदाद का ख्वाहाँ नहीं, ज़र और इज्ज़त नहीं माँगता, शाही मुलाज़िमत की सिफ़ारिश भी नहीं मंज़ूर है उसे—जानते हो ग़यास? वह सिर्फ़ यह चाहता है कि तुम उसके रास्ते से अलग रहो, इसी में तुम्हारी बेहतरी है।"

ग़यास ने त्योरी बदलकर अशरफ़ मिर्ज़ा की तरफ़ देखा, और जवाब दिया—

"बस, ख़ामोश हो जाओ अशरफ़ मियाँ! ग़यास जिसका नमक

जाता है, उस का साथ ज़रूर दूँगा। दुनिया की कोई ताक़त उसे इस के क़ब्ज़े से जुदा नहीं कर सकता।"

अशरफ़ मिर्ज़ा ज़ोर से हँस पड़ा।

आमिना यह सुनकर डर गयी थी। वह ग़यास के पीछे छिपकर खड़ी हो गई।

अशरफ़ मिर्ज़ा ने ताली बजाई—जाने किधर से आकर दस-बारह आदमियों ने ग़यास को घेर लिया। ग़यास ने तलवार के क़ब्ज़े पर हाथ रक्खा, मगर फ़ौरन ही उसे पीछे से बेक़ाबू कर दिया गया। थोड़ी देर बाद—बरगद के दरख़्त से ग़यास बँधा हुआ था। अशरफ़ मिर्ज़ा और उसके आदमी आमिना को लेकर चल दिए थे।

[तीन]

दूसरे दिन—

शाही दरबार में ग़यास एक मुलज़िम की हैसियत से खड़ा था। शाह नासिरुद्दीन सिर नीचा किए तख़्त पर बैठे हुए क़ाज़ी से मुक़दमे की तफ़सील सुन रहे थे। क़ाज़ी ने कहा—"मुलज़िम ने अपना जुर्म क़ुबूल किया या नहीं, मगर शाहज़ादी आमिना का दुश्मनों के हाथों में पड़ जाना मुलाज़िम की लापरवाही का सबसे बड़ा सुबूत है। शाही मुलाज़िम की हैसियत से वह अपने फ़र्ज़ की अदायगी न कर सका, और इसलिये क़ानून की रू से वह क़ुसूरवार है।"

ग़यास ने सिर उठाकर एक बार चारों तरफ़ देखा। क्या

वह सचमुच क़ुसूरवार था? शाही क़ानून क्या उसकी खिदमत का खयाल नहीं कर सकता? इंसाफ़ क्या उसकी वफ़ादारी का यही सिला देना चाहता है? ग़यास ने देखा, नासिरुद्दीन की आखों में आँसू भरे थे। उससे न रहा गया। वह ज़ोर से पुकार उठा—

"जहाँपनाह! वाक़ई मैं क़ुसूर वार हूँ, मुझे सज़ा दीजिए, सख्त-से-सख्त सज़ा दीजिए। आज अपनी बदनसीबी से मैंने अपने आक़ा का एतक़ाद, यक़ीन, इतमीनान, सब कुछ खो दिया है। मैं अब इस दुनिया में मुँह दिखाने क़ाबिल नहीं।"

नासिरुद्दीन ने ग़यास की बातें सुनकर एक मर्तबा उसकी तरफ़ देखा, फिर मुँह फेर लिया।

क़ाज़ी ने कहा—

"शाहंशाहे देहली की हुकूमत में इंसाफ़ हर एक को मिलता है। ग़यास! क़ानून तुम्हें वाक़ई बड़ी-से-बड़ी सज़ा देगा।"

क़ाज़ी ने हुक्मनामा लिखकर बादशाह के आगे बढ़ा दिया। नासिरुद्दीन ने उस पर दस्खत कर दिए।

क़ाज़ी फिर बोल उठा—

"ग़यास! तुम्हें ताज़िंदगी क़ैद रहना होगा, यही तुम्हारे जुर्म की सज़ा है।"

ग़यास ने जवाब दिया—

"क़ानून के फ़ैसले के आगे मैं सिर झुकाता हूँ मगर मुझे जहाँपनाह के रूबरू यह अर्ज़ करना है कि मजबूरी से होने-

"कहाँ ?"

"अल्लाह तुम्हारा रहनुमा है। उसकी बात मान लेना, जो कुछ वह कहे। उसके सिखाये पर चलकर ही आगे जा सकोगे तुम।"

इलियास ताज्जुब से उनकी तरफ़ देख रहा था। वह कुछ न समझ सका।

अशरफ़ मिर्ज़ा ने देखा और समझा—इलियास की आँखें मानो उनसे कुछ पूछ रही थीं।

अशरफ़ मिर्ज़ा ने एक ठंडी साँस ली, और बढ़कर इलियास के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—

"बेटा !"

इलियास ने जवाब दिया—

"अब्बा !"

आगे-आगे अशरफ़ मिर्ज़ा और पीछे इलियास, दोनों तहखाने से बाहर निकल आए। इलियास ने चोर-दरवाज़ा बंद कर दिया। बाहर खँडहरों में चाँदनी खिल रही थी। सन्नाटे की उस रात का समाँ अजीब रंग ला रहा था। पत्थर की एक चट्टान पर बैठते हुए अशरफ़ मिर्ज़ा ने कहा—

"इलियास ! मुझे एक बात का अफ़सोस रह गया।"

क़रीब आकर इलियास ने पूछा—

"वह क्या अब्बाजान ?"

"यही कि मैं तुम्हारी शादी न कर सका।"

शर्म से इलियास ने गर्दन नीची कर ली। अशरफ़ मिर्ज़ा ने उसकी तरफ़ देखकर फिर कहा—

"मगर मुझे यक़ीन कि मेरा दोस्त ग़यास इस काम को पूरा करेगा। मेरा दिल कहता है—यही होना है। उस पाक परवरदिगार की मर्ज़ी ही ऐसी है।"

"अल्लाह ताला की मर्ज़ी पर भरोसा रखिए अब्बा!"

अशरफ़ मिर्ज़ा कुछ सोचने लगा। इलियास का ख़याल उसे बेचैन कर रहा था।

[पाँच]

कुछ रोज़ बाद।

क़ैदख़ाने की लंबी बारादरी में घूमते-घूमते इलियासबेग एकाएक ठहर गया। उसने इधर-उधर देखा। पहरेदार नींद से बेबस होकर कोई कहीं कोई कहीं दीवारों के सहारे झपकी ले रहे थे। इलियास धीरे से सत्ताईस नंबर की कोठरी के दरवाज़ों पर पहुँचा और सीख़चों के पास जाकर उसने धीमी आवाज़ में पुकारा—

"क़ैदी? जागते हो?"

ग़यास ने जवाब दिया—

"जागता हूँ।"

"तुम्हें अब भी नींद नहीं आई?"

"क्यों? तुम्हें क्या?"

"मुझे क्या? अच्छा क़ैदी! तुम्हारा नाम ग़यास है न?"

"है, मगर तुम्हारा मक़सद ?"

"मेरा मक़सद जान लेना, मगर मैं एक दोस्त की हैसियत से पूछता हूँ।"

"झूठी बात—यहाँ मेरा कोई दोस्त नहीं।"

"मेरी बात का यक़ीन नहीं ?"

"हर्गिज़ नहीं।"

"तुम रिहाई चाहते हो ?"

"चाहने से ही कुछ मिल नहीं जाता, फिर ग़ैरमुमकिन बात का तज़किरा ही क्या ?"

"ग़यास ! सुबूत चाहते हो तुम ? चलो, बाहर आओ।"

इलियास ने एक मर्तबा चारों तरफ़ देखकर अपने अँगरखे की जेब से एक चाभी निकाली, ताला खोला, और कोठरी का दरवाज़ा धीरे से खोलकर कहा—

"जल्दी करो ग़यास।"

ग़यास ने जवाब दिया—

"तुम दग़ा नहीं करोगे, इसका सुबूत ?"

"ओह ! देर मत करो ग़यास।"

"मैं रिहाई नहीं चाहता, जब तक मुझे यक़ीन न हो जाय कि तुम मेरे दोस्त हो।"

"अच्छा सुनो, तुम अशरफ़ मिर्ज़ा को जानते हो ?"

"क्यों नहीं—उसी की वजह से मैं इस हालत को पहुँचा हूँ।"

"वह मक्के शरीफ़ चले गए, वह मेरे वालिद हैं।"

"तुम्हारे वालिद ? ग़ल़त बात—उनके औलाद कब थी ?"

"ख़ैर, जाने से क़ब्ल उन्होंने मुझे यह काम सौंपा था कि मैं उनके दोस्त ग़यास को रिहा कर सकूँ, इसीलिये मैंने शाही मुलाज़िमत अख्तियार की सिपाही बना, हवलदार बना, और काफ़ी वक़्त तक इंतज़ार करने के बाद आज मुझे मौक़ा मिला, जो तुम्हें रिहा करने आ सका।"

ग़यास कोठरी से बाहर निकल आया और इलियास से हाथ मिलाते हुए बोला—

"कुछ भी हो, मुझे यक़ीन करना पड़ता है कि तुम मेरा बुरा नहीं चाहते।"

इलियास ने कुछ जवाब न दिया।

आगे-आगे इलियास और पीछे ग़यास चले जा रहे थे। सदर दालान पार करते ही एक खंभे की आड़ से निकलकर किसी ने ज़ोर से आवाज़ दी—

"कौन जाता है ? ठहर जाओ।"

इलियास ने ग़यास को कोने में छिपने का इशारा करते हुए अपनी तलवार खींच ली। सामने से मशाल लिए हुए कोई आ रहा था।

इलियास ने पहचाना, उसने ज़ोर से पुकारकर कहा—

"यूसुफ़ ! ख़ैरियत चाहते हो, तो हट जाओ मेरे सामने से।"

यूसुफ़ ने नज़दीक आकर देखा, कोने में ग़यास छिपा खड़ा

था और सामने इलियास नंगी तलवार हाथ में लिए उसकी तरफ़ देख रहा था। यूसुफ़ ने कहा—

"इलियासबेग! मेरे अब्बा को तुम कहाँ लिए जाते हो?"

"मैंने उन्हें रिहा कर दिया है। बस, इतना ही समझ लो। अपने वालिद की आज़ादी के लिये तुम्हें भी मेरी मदद करनी होगी। मैं तुम्हें अपना दोस्त समझता हूँ।"

यूसुफ़ ने ग़यास की तरफ़ देखा, और बेबसी से कहा—

"अब्बा!"

ग़यास ने सिर नीचा कर लिया। वह कुछ न कह सका।

यूसुफ़ ने इलियास की तरफ़ देखा और बोला—

"कुछ भी हो इलियास! मैं बादशाह का नौकर हूँ, दग़ा न करूँगा। शाही क़ैदी को भगाने की कोशिश में मैं तुम्हें गिरफ़्तार करता हूँ।"

इलियास की तलवार ऊँची उठी, मगर साथ ही पीछे हटकर यूसुफ़ ने बिगुल बजा दिया। सिपाही दौड़ पड़े, और फिर...

[छ]

शाही अदालत में—

एक ही कटहरे में हथकड़ी-बेड़ी से जकड़े हुए इलियास और ग़यास खड़े थे! बादशाह नासिरुद्दीन ने इलियास की तरफ़ देखा और पूछा—

"इलियासबेग! पिछली रात के कुल वाक़यात मैं सुन चुका हूँ, मगर मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम्हारे वालिद अशरफ

मिर्ज़ा ने जब ग़यास को बरबाद करने में कुछ उठा नहीं रक्खा, तब इस मर्तबा उसे क़ैद से रिहा करने की कोशिश करने में तुम्हें क्यों जिम्मेदार बनाया ?"

इलियास ने धीरे से जवाब दिया—

"आलीजाह ! मैं इस सवाल का जवाब कुछ नहीं दे सकता। अब्बाजान की आख़ीरी बात मुझे याद थी, और मैं उसे पूरा करने का पक्का इरादा कर चुका था मगर अफ़सोस !"

शाह ने फिर कहा—

"और शायद तुम्हें यह भी मालूम होगा कि बाग़ी अशरफ़ मिर्ज़ा ने मेरी एकलौती बेटी आमिना को मुझसे छीन लिया। क्या तुम आमिना को जानते हो ?"

इलियास कुछ चौंक पड़ा। उसने जल्दी से अपने सीने पर हाथ रक्खा, और सिर नीचा करके बोला—

"आमिना को—मैं नहीं जानता।"

ग़यास बड़े ग़ौर से इलियास के चेहरे की तरफ़ देख रहा था। उसने घबराकर कहा—

"इलियास ! मुझे अब भी इस बात का शक है कि तुम अशरफ़ मिर्ज़ा की औलाद हो।"

शाह नासिरुद्दीन ने ग़यास की तरफ़ आँखें उठाईं। ग़यास ने कहा—

"जहाँपनाह ! आपकी खोई हुई आमिना और कोई नहीं, यही इलियास है।"

इलियास घबराकर इधर-उधर देखने लगा। अदालत में सबकी निगाहें उसकी तरफ़ उठ गईं।

शाह नासिरुद्दीन ने पुकारा—

"यूसुफ़!"

शाह का इशारा समझकर यूसुफ़ आगे बढ़कर कटहरे के पास पहुंचा, और उसने इलियास के सिर से पगड़ी उतार दी। लंबे-लंबे बाल बिखरकर चारों तरफ़ फैल गए। आमिना ने अपनी आंखें अपनी हथेलियों से मीच लीं। शाह नासिरुद्दीन चिल्ला उठे—

"मेरी बेटी! मेरी आमिना!"

ग़यास की आंखों से टप-टप आंसू गिर रहे थे।

सब लोग चिल्ला रहे थे—

"शाहज़ादी आमिना ज़िंदाबाद! ज़िंदाबाद!"

उस दिन—

सारा शहर ख़ूब सजा हुआ था।

शाहज़ादी आमिना और यूसुफ़ की शादी हो रही थी।

शाही महल की छत पर—

अपने सिर से ताज उतारकर ग़यास के सिर पर रखते हुए शाह नासिरुद्दीन ने कहा—

"दोस्त ग़यास! आज से दिल्ली का तख़्तो ताज तुम्हारा हो चुका। मैं अपनी ज़िंदगी का बाक़ी व़क्त ख़ुदा की इबादत में

गुज़रना चाहता हूँ। अपनी सबसे क़ीमती दौलत—आमिना भी—तुम्हें सौंप चुका, उसका ख़याल रखना।"

ग़यास ने कुछ जवाब न देकर शाह नासिरुद्दीन के क़दमों पर अपना सिर रख दिया।

"ख़ुदा तुम्हें ख़ुश रक्खे।"

इतना कहकर शाह नासिरुद्दीन चल दिए।

ग़यास दिल्ली के तख्त पर बैठा। हिंदोस्तान की तवारीख़ आज भी उसे ग़यासुद्दीन बलबन के नाम से जानती है।

जवाब

[एक]

पिछले साल की बात है। उन दिनों, पूना में, मैं एक फ़िल्म कंपनी में डाइरेक्टर था। शहर से बाहर, एक छोटे-से बँगले का ऊपरी भाग मैंने किराए पर ले रक्खा था। वहाँ मैं रहा करता था।

नवंबर का महीना और जाड़े का आरंभ—कुछ-कुछ ठंड बढ़ना शुरू हो गई थी। यों तो पूना की स्थिति ही पहाड़ों के बीच में है।

मेरे बँगले के ठीक सामने एक दूसरी कोठी बहुत दिनों से खाली पड़ी थी। उसका 'किराए के लिये खाली' का बोर्ड रोज़ाना आते-जाते मेरी नज़रों के सामने पड़ता रहता था। वहाँ मैं अकेला ही रहता था। प्रवास के उन दिनों का सूनापन

भी कौतुक और जिज्ञासा से खाली न था। अन्य प्रांत में अन्य भाषा-भाषियों का संपर्क कुछ नए अनुभवों का परिचायक बन रहा था। हाँ, कभी-कभी अपने सूनेपन का यथार्थ ज्ञान मन को व्याकुल कर देता था, परंतु उसके साथ ही जब अंधकार से आच्छादित उस सामनेवाली कोठी की ओर नज़र उठ जाती, तब मन को थोड़ा संतोष होता था।

उस अँधेरी कोठी में दीपक का प्रकाश एक स्वप्न था। उसी भाँति मेरे हृदय में एक अभाव, एक शून्यता, एक निराशा का अंधकार था, जिसे अभिशाप के रूप में मैंने स्वयं ही अंगीकार कर रक्खा था।

वह मेरे जीवन की पहेली और अपनेपन की बात थी, जो अब भी ज्यों-की-त्यों है—कब तक उसे अपनाकर संचित रख सकूँगा, नहीं कह सकता।

उस दिन शाम को कोई सात बजा होगा। दिन-भर स्टूडियो में काम करने के बाद बहुत ही थका हुआ मैं वापस लौटा। ड्राइवर ने गाड़ी से उतरते ही पूछा—

"आज आप घूमने न जायँगे?"

मेरा जी अच्छा न था। मैंने कहा—

"नहीं।"

ड्राइवर ने गाड़ी गेरज में बंद कर तालियाँ मुझे दे दीं, और सलाम करके चल दिया। मैंने मुड़कर देखा, सामनेवाली कोठी का किराएवाला बोर्ड आज गायब था, और ऊपर के कमरे में

रोशनी हो रही थी। मैंने समझा, कोई किराएदार आ गया। मैं ज़ीना चढ़कर, ऊपर ताला खोलकर अपने कमरे में आया; और कपड़े उतारने लगा। सामनेवाली कोठी में ग्रामोफ़ोन बज रहा था—

"तेरे दिल की लगी कोई क्या जाने ?"

मैं सुनने लगा।

[दो]

चाय का प्याला होठों से लगाए मैं सबेरे कमरे के सामने, बरामदे में, टहल रहा था। नई आबाद हुई कोठी के ऊपरी मंज़िल की खिड़कियाँ एक-एक कर खुल गईं। कोई नौकरानी खिड़कियों के काँच कपड़े से साफ़ कर रही थी। मैं प्याले की चाय समाप्त कर कमरे में आ गया।

सिर में हलका-सा दर्द रात-भर रहा था, इसलिये उस दिन स्टूडियो न जा सका। क़रीब दस बजे गैरेज से गाड़ी निकालकर मैं सड़क पर लाया। भोजन करने होटल की तरफ़ जाने का इरादा था। मैंने गाड़ी स्टार्ट की। मुझे ऐसा जान पड़ा कि सामनेवाली कोठी से कोई जल्दी-जल्दी बाहर आ रहा है। मैंने घूमकर देखा, एक युवती सफ़ेद रंग का रेशमी साड़ी पहने बाल खुले हुए, पैरों में सुनहले चप्पल, दौड़ती हुई बाहर आई। मेरी मोटर चल चुकी थी। उसने आवाज़ दी—

"सुनिए !"

मैं ठहर गया। मेरी गाड़ी के पास आकर उसने कहा—

"नमस्ते।"

"नमस्ते।"

बहुत दिनों बाद अपने प्रांत की भाषा सुनी। मैं उसकी ओर देखने लगा। शैशव का अल्हड़पन जवानी के ख़ुमार में बदल रहा था। वह कुछ असाधारण सुंदरी न थी, परंतु उसकी बोली और चाल-ढाल में एक आकर्षण अवश्य था। मैं मुस्किराकर बोला—"कहिए?"

उसने कुछ लजाकर कहा—

"मैं—मैं यह पूछ रही थी—"

उसकी बात पूरी न हो सकी, वह चुप हो गई।

मैंने पूछा—

"क्या?"

मैंने गाड़ी का एंजिन बंद कर दिया।

वह बोली—

"आप इस कोठी में रहते हैं?"

"हाँ।"

"भला, मेरी कोठी का नंबर क्या है? मुझे पत्र लिखना है, और अपना ही पता मुझे नहीं मालूम—कल ही तो आई हूँ।" उसकी बातों में एक अजीब भोलापन था। मुझे हँसी आ गई। मैं बोला—

"ख़ूब! मकान-मालिक से ही दरियाफ़्त किया होता।"

उसने सरलता से पूछा—

"आप तो शायद यहाँ बहुत दिनों से रहते हैं ? आपको मालूम होगा, इस खयाल से मैंने आपसे—"

"आपकी कोठी का नंबर है दो सौ अस्सी ; प्लाट-नंबर अट्ठारह।"

वह बोली—

"धन्यवाद !"

मैंने गाड़ी स्टार्ट कर दी। परिचय की वे दो घड़ियाँ—मैं सोचने लगा—कैसी थीं ? मन ने मेरे प्रश्न का उत्तर न दिया।

[तीन]

कई दिन बीत गए। पिछली घटनाओं को भूल चला था। अचानक रविवार आया। शाम को साढ़े चार बजे होंगे कि मेरे नौकर ने आकर मुझे नीले रंग का एक लिफ़ाफ़ा दिया। मैंने पूछा—

"किसने दिया ?"

उसने धीमे स्वर में उत्तर दिया—

"सामनेवाली कोठी से नौकरानी आकर दे गई है कि बाबूजी को दे देना।"

मैंने लिफ़ाफ़ा खोला। उसमें एक पत्र था। लिखा—

श्रीमान्‌जी ! नमस्ते।

यदि आपको कष्ट न हो, और अनुचित न समझें, तो इस समय मेरे यहाँ चाय पीने चले आएँ।

भवदीया

शैवलिनी वर्मा

पत्र पढ़कर कुछ देर मैं सोचता रहा, फिर नौकर को बुलाकर मैंने कहा—

"पांडु! सामनेवाली कोठी में जाकर बाई से कह दे कि बाबूजी काम से बाहर जा रहे हैं। इस वक़्त ना आ सकेंगे।"

पांडु चला गया।

कोठीवाली बाई का नाम 'शैवलिनी वर्मा!' मैंने सोचा—आज तो नाम भी मालूम हो गया, लेकिन आख़िर यह है कौन? घर में एक नौकरानी के सिवा और कोई नहीं दिखाई देता। रहती भी शान से है! फिर अपनी कल्पना के अनधिकार प्रवाह पर मुझे थोड़ी ग्लानि हुई। मैंने उधर से ध्यान ही हटा लिया।

मेज़ पर अंगरेज़ी का एक उपन्यास पड़ा था। मैं उसे उठाकर उसके पन्ने उलटने लगा। पिछली रात को वह उपन्यास थोड़ा पढ़ा था, और पृष्ठ याद रक्खा था, लेकिन इस समय भूल गया। लाख कोशिश करने पर भी वह पृष्ठ, जहाँ से पढ़ना छोड़ा था, मुझे न मिल सका। लाचार पुस्तक बंद करके मैंने फिर मेज़ पर रख दी।

घड़ी ने टन्-टन् करके पाँच बजाए। साथ ही एक मोटर आकर मेरे बँगले के सामने रुकी। किसी ने हॉर्न बजाया। हॉर्न की आवाज़ पहचानी थी। मैं उठकर बरामदे में आया। मेरा नौकर नीचे खड़ा था। धीमी आवाज़ में किसी ने मराठी-भाषा में पूछा—

"मकान पर ही हूँ ?"

मैंने ऊपर से ही उत्तर दिया—

"हाँ-हाँ, पधारिए !"

उषा कुछ शर्मा-सी गई। उसने मोटर से उतरकर मुझे प्रणाम किया, और सीधा चलकर कमरे में आ गई। फिर मुझे बरामदे में खड़ा देखकर मेरे पास आ कर बोली—

"हवाख़ोरी हो रही है क्या ?"

उषा मेरी कंपनी में प्रधान अभिनेत्री की हैसियत से काम करती थी, और प्रायः मेरे घर आया करती थी। उसके पिता मेरे घनिष्ठ मित्रों में से थे, और मुझे बहुत चाहते थे।

उषा का प्रश्न मुझे कौतूहल से खाली न जान पड़ा। मैंने उत्तर दिया—

"बैठे ठाले काम ही क्या ? छुट्टी का दिन—"

तब तक उषा की चंचल आँखें सामनेवाली कोठी पर जा पड़ीं। वह ठठाकर हँस पड़ी, और बोली—

"हाँ-हाँ, छुट्टी का दिन और बरामदे में खड़े-खड़े—ज़रा उधर देखिए।"

उसने मेरे दोनो हाथ पकड़कर मुझे पीछे देखने का संकेत किया। मैंने देखा, शैवलिनी अपने कमरे में कुरसी पर बैठी कोई पुस्तक पढ़ रही थी।

नटखट उषा ने कान के पास अपना मुँह लाकर कहा—

"अब तो चोरी पकड़ी गई भाई साहब! रिश्वत दिलाइए, नहीं तो—"

मैं थोड़ा खीझकर उसकी तरफ़ घूम पड़ा, मेरी आँखों का रंग बदलता देखकर उषा सिटपिटाकर चुप हो गई, और सिर नीचा करके बोली—

"नाराज़ काहे को होते हैं भाई? मैं तो—मैं तो—"

मैं उसे हाथ पकड़कर कमरे में ले आया, और उसे कुरसी पर बिठाकर, उसके हाथ-पाँव ठीक से सीधे कर, उसका मुँह सामने घुमाकर मैं भी एक कुरसी पर बैठकर बोला—

"हाँ, क्या कह रही थी तू?"

वह बोली—

"कुछ नहीं। आप नाराज़ हो गए भाई?"

"नहीं।"

"ईश्वर का धन्यवाद!"

उसने एक ठंडी साँस ली। मेरी भावुकता से वह भली भाँति परिचित होने के कारण मुझसे डरती थी।

उसके चुप होते ही मुझे जाने क्यों उस मातृहीना लड़की पर, तरस आया।

मैंने कहा—

"उषा बहन! तुम्हारा भाई वैसा नहीं, जैसा तुम समझती होगी।"

मैंने देखा, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू आ गए थे।

मैंने कहा—

"चलो, थोड़ा घूम आएँ।"

मंत्र-मुग्ध-सी वह उठ खड़ी हुई, और बोली—

"भाई! मुझे क्षमा कीजिएगा।"

"धुत् पगली कहीं की!"

उस शाम को हम दोनों सिनेमा देखने चले गए। जाते-जाते मैंने देखा, शैवलिनी नीचे की तरफ़ हमें देख रही थी।

[चार]

कुछ दिन और बीते। स्टूडियो के प्रबंधकों से मेरा कुछ मत-भेद हो जाने के कारण मैं थोड़ा चिंतित-सा, शाम को पैदल ही टहलता हुआ, घर की तरफ़ आ रहा था। मन में तरह-तरह के विचार टक्कर मार रहे थे। सामने से किसी ने कहा—

"नमस्ते महाशय!"

स्वर परिचित-सा जान पड़ा। मैंने देखा, शैवलिनी। मैंने उत्तर दिया—

"नमस्ते।"

मैं आगे बढ़ गया। वह भी जाते-जाते लौट पड़ी, और मेरे साथ चलते-चलते बोली—

"आज पैदल कैसे? गाड़ी कहाँ है?"

मैंने उत्तर दिया—

यों ही—जी में आया—पैदल चल पड़ा। गाड़ी वापस भेज दी थी।"

"क्या किसी मेहमान के लिये ?"

शैवलिनी का संकेत मैं समझ गया। मैं कुछ न बोला। उसे इस प्रश्न से क्या प्रयोजन ? मैं सोचने लगा। उसने पूछा—

"आपको मैंने उस दिन चाय पर आमंत्रित किया था, आप न आए। हाँ, ग़रीबों का नसीब !"

मैंने उत्तर दिया—

"उस दिन मेरा जी अच्छा न था; और मुझे बाहर जाना था, वरना ग़रीब-अमीर का भेद दुनियावालों के लिये हुआ करता है।"

"अच्छा, समझी, आप इस दुनिया से निराले हैं ? क्यों महाशय ! मेरी ढिठाई माफ़ कीजिएगा।"

मैंने किंचित् रोष से उत्तर दिया—

"बाई ! आपकी ऐसी आलोचना का—

मेरी बात काटकर वह बोली—

"अधिकार नहीं है, यही आप कहना चाहते हैं न ?"

उसने एक ठंडी साँस ली। उसके सिर से साड़ी खिसककर कंधे पर आ गई थी। वह चुपचाप चलने लगी। हम दोनो घर के पास आ गए।

उसने कहा—

"क्या मैं आपके यहाँ आ सकती हूँ ?"

मैंने क्षण-भर ठहरकर उत्तर दिया—

"मैंने आपको मना तो नहीं किया ?"

"लेकिन बुलाया भी तो नहीं ?"

"आपकी इच्छा बिना जाने ही—थोड़े-से परिचय के बाद—मैं क्योंकर ऐसा साहस कर लेता ?"

"पर मैंने तो साहस किया, और बदले में मुझे निराश होना पड़ा ! आप तो यू० पी० के ही रहनेवाले हैं ?"

"जी हाँ।"

शैवलिनी ने मेरे साथ ही मेरे कमरे में प्रवेश किया, और इधर-उधर चारों तरफ घूमकर उसका निरीक्षण किया। फिर दीवार पर लगे हुए मेरी धर्मपत्नी के चित्र की ओर देखती हुई बोली—

"पूना में अकेले ही रहते हैं ?"

मैंने कहा—

"हाँ।"

"और कुटुंब के लोग ?"

"लखनऊ।"

वह आकर सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ गई। थोड़ी देर मेज़ पर रक्खी हुई पेंसिल से खेलती रही, फिर नीची निगाह करके बोली—

"आप विवाहित हैं न ?"

मैंने अपनी धर्मपत्नी के चित्र की ओर आँखें उठाकर धीरे से कहा—

"हाँ।"

"कहाँ हैं आपकी श्रीमतीजी ?"

मेरे हृदय के तारों को मानो किसी ने छू दिया। कुछ दुखी होकर मैंने उत्तर दिया—

"भगवान् के यहाँ !"

शैवलिनी का दीर्घ निःश्वास मुझसे छिपा न रहा।

मैंने पूछा—

"क्यों, क्या हुआ ?"

उसने मेरी बात सुनी-अनसुनी करके पूछा—

"यह चित्र उन्हीं का है ?"

मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

मेरा नौकर चाय की ट्रे और दो प्याले मेज़ पर रखकर चला गया।

मैंने शैवलिनी से कहा—

"चाय पीजिए।"

शैवलिनी ने किंचित् हास्य से कहा—

"अगर मैं इनकार करूँ ?"

मैंने सहज ही उत्तर दिया—

,'आपका बदला और मेरा अपमान होगा।"

'हूँ, तो आप बदले से डरते हैं, या अपमान से ?"

'मैं सोचने लगा—कैसी चतुर है यह लड़की !

मैंने कुछ उत्तर दिए विना ही फिर कहा—

"पीजिए, चाय ठंडी हो जायगी !"

मैंने समझा, प्ले समाप्त हो गई। नाटक फिर शुरू हुआ, और शैवलिनी देखने में तन्मय हो गई।

मैं मोटर के सहारे ऊँघने लगा। एक झपकी आ गई। एकाएक शैवलिनी ने ज़ोर से मेरा कंधा पकड़ कर हिलाया। मैं जाग पड़ा।

उसने पूछा

“नाटक देख रहे थे, या सो रहे थे ?”

मैंने कहा—

“दोनो !”

वह हँस दी। मुझे भी हँसी आ गई।

नाटक समाप्त होने पर हम लोग चल दिए। मैं खुद ही मोटर चला रहा था। शैवलिनी मेरी सीट के बराबरवाली सीट पर बैठी थी। थोड़ी दूर आने पर उसने पूछा—

“घर चल रहे हैं ?”

मैंने कहा—

“हाँ।”

“थोड़ा घूमते।”

“चलिए।”

कहकर मैंने गाड़ी दाहने हाथ को मोड़ दी। नदी के किनारे ठंडी हवा चल रही थी, चारो ओर पूर्णिमा की चाँदनी—बड़ा सुहावना समय था। मोटर मंद गति से सीधी सड़क पर चली जा रही थी। हम दोनो चुप बैठे थे। इतने में शैवलिनी ने कहा—

"आपने मेरे लिये इतना कष्ट उठाया !"

मैंने उत्तर दिया—

"तो ?"

"आपके लिये तो अभी तक अपरिचित ही हूँ ! मैत्री, स्नेह, सौजन्य और परिचय का अधिकार आपने दिया ही नहीं मुझे अब तक।"

"अपरिचित रहना ही अच्छा है शैवलिनी ! परिचय के संसार की विषमता से मृत्यु भली।"

नदी का घाट आ गया था। नीचे कोई राह चलने वाला गाता जा रहा था—

"याद न कर दिले हज़ीं गुज़री हुई कहानियाँ !"

मेरी आँखों में आँसू आ गए। जेब से रूमाल निकालकर मैं उन्हें पोछने की चेष्टा करने लगा।

शैवलिनी ने देख लिया। मेरे हाथ से रूमाल छीनकर बोली—

"छिः-छिः ! रोते हैं आप ?"

उसने अपने हाथों से मेरी आँखों के आँसू पोछ डाले। वह बोली—

"लौट चलिए घर।"

मैंने गाड़ी मोड़ दी, और घर की ओर चला। मैंने देखा, शैवलिनी की आँखें डबडबा आई थीं ! उसने मुझे अपनी ओर देखते हुए जान लिया। मेरे कंधे के सहारे उसने अपना सिर झुका दिया, और आँखें बंद कर लीं।

मैं उठ बैठा। शैवलिनी की ओर देखा—उसके आँसू अभी तक रुके न थे!

मैंने उससे कहा—

"आपका एकाकी जीवन भी आपकी अशांति का एक कारण है।"

वह बोली—

"लेकिन वह अशांति तो अब अमर हो चुकी है। जो कुछ खो दिया, वह अब न मिलेगा, कभी न मिलेगा, जब तक श्वासों की अंतिम धारा अनंत के प्रवाह में लीन न हो जायगी!"

उसने मेरी स्वर्गीया पत्नी के चित्र की ओर देखा। मेरी आँखें भी उधर ही उठ गईं। मैंने सोचा, शैवलिनी सत्य कह रही है। एक ही मार्ग के दो पथिक कहाँ आ मिले थे। अपनी साड़ी के छोर से शैवलिनी ने अपने आँसू पोंछ डाले। मैं उसकी ओर एकटक देख रहा था—विषाद का वह रूप, सूखते हुए यौवन की छाया, अवहेलना का अभिशाप, सजीव निराशा!

उसने मेरी ओर देखा, और उठी। मैं उसके पास जा खड़ा हुआ।

मैंने कहा—

"शैवलिनी! एक बात कहूँ?"

उसने धीरे से अपनी गीली आँखें मेरी ओर उठाईं।

मैं बोला—

"अपने जीवन की इस पहेली को अधिक सोचने की ज़रूरत नहीं।"

वह मुस्किराई। बोली—

"क्यों?"

मैं उसके इस प्रश्न का उत्तर देने में उस समय असमर्थ हो गया। मैं टहलता हुआ बरामदे में आ खड़ा हुआ।

[सात]

उस दिन के बाद मेरा व्यवहार शैवलिनी के साथ एकदम बदल गया। मैं उसे अपने अत्यंत निकट अनुभव करने लगा। उसका स्नेह एक आत्मीय के स्नेह की तरह दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। कभी-कभी मैं उसे दुखी देखकर बहुत चिंतित हो जाता, और सोचता कि शैवलिनी का सुख क्या हो सकता है? वह मेरे मन की बात थी। शैवलिनी से एक दिन मैं पूछ बैठा—

"यदि मैं तुम्हारी कुमुद को ले आऊँ, और सदा के लिये वह तुम्हारे पास रहने लगे?"

उसने कहा—

"ऐसा हो ही नहीं सकता। बाबूजी, मेरे पिता, कभी न भेजेंगे।"

"वह है कहाँ?"

"आगरे में। मेरे बाबूजी वहीं वकालत करते हैं। हरिनारायण वर्मा उनका नाम है।"

मैंने कहा—

"शैवलिनी ! आज मैं तुमसे एक बात और पूछूँगा।"

उसने कहा—

"पूछिए।"

"क्या कुमुद को पाकर तुम सचमुच सुखी होगी ?"

"हाँ, लेकिन उसके साथ ही मेरा एक प्रश्न और है।"

"वह क्या ?"

मेरे चेहरे की ओर देखकर उसने गंभीर भाव से कहा—

"फिर बता दूँगी।"

"अभी कहो न।"

"आप नाराज़ हो जायँगे।"

"क्यों ?"

"बात ही ऐसी है।"

"मैं नहीं नाराज़ हूँगा।"

"वादा कीजिए।"

"वादा करता हूँ।"

"मेरे प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देंगे अभी ?"

"दूँगा।"

"बिलकुल ठीक-ठीक ?"

"हाँ, कहो न।"

वह मेरी आँखों में अपनी आँखें डालकर मेरे हृदय का भाव जाननेकी चेष्टा कर रही थी। मैं और भी गंभीर हो गया।

उसने कहा—

"मुझे अपनी दासी बनाने में आपको कोई आपत्ति है ?"

उसकी बात सुनकर मैं क्षण-भर के लिये व्याकुल हो उठा। उसके प्रश्न की भयंकरता अब समझ में आई। मैं चुप रह गया। कुछ न बोल सका। उसने पूछा—

"क्या नाराज़ हो गए ?"

मैं फिर भी चुप था। बँगले के बाहर हरियाली में हम लोग टहल रहे थे। मैं ठहर गया। मैंने कहा—

"शैवलिनी !"

उसने नीची दृष्टि किए हुए धीरे से कहा—

"हाँ।"

"तुमने अपना प्रश्न खूब सोच लिया है ?"

"हाँ।"

"और मेरी स्थिति भी जानती हो ?"

"जानती हूँ।"

"मैं तुम्हारा शुभाकांक्षी हूँ शैवलिनी !"

"इतना विश्वास होने पर ही मैंने आपसे प्रश्न किया है।"

"फिर ? तुम्हारा प्रश्न उचित है या अनुचित, इसका निर्णय मेरी ओर से तुम्हीं कर लो, उत्तर मिल जायगा।"

शैवलिनी किंचित् निराशा से बोली—

"इतनी बुद्धि मुझमें नहीं। आपको अपना करके माना है, अब आप ही उत्तर दे लें।"

मैंने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—

"शैवलिनी! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना इतना सरल नहीं, जितना तुम सोचती होगी। मुझे अवसर दो, मैं भी उसका निर्णय कर सकूँ।"

"आशा है?"

"केवल आशा ही, विश्वास नहीं। मैं परिचय का मूल्य चुकाने का प्रयत्न करूँगा।"

मैं चला आया। शैवलिनी अपनी कोठी में चली गई। उस रात मुझे नींद न आई। रात-भर सोचता रहा—वही शैवलिनी का प्रश्न!

[आठ]

अगले सप्ताह में पूना की कंपनी में मेरे कार्य करने की अवधि समाप्त हो गई। अपने कंट्रैक्ट का बाक़ी पैसा लेकर मैं घर लौटा। आगे का सारा प्रोग्राम निश्चय कर चुका था। शैवलिनी से मैंने कुछ न कहा। अपने ड्राइवर को सब बात समझाकर, रात को सारा सामान बँधवाकर मोटर पर रखवाया, और सवेरे चार बजे मैं मोटर पर आगरे रवाना हो गया। रास्ते की ख़राबी के कारण पाँच दिन लग गए। छठे दिन सवेरे मैं आगरे पहुँचा। हरिनारायण वकील के मकान का पता लगाया। जाने पर देखा, वहाँ ताला बंद था!

पड़ोसियों से पता लगाने पर मालूम हुआ कि वह काशी

जाकर रहने लगे हैं, और वकालत छोड़ दी है। कुमुद के बारे में सुना, उसे किसी अनाथालय में दाखिल करा दिया है और उसके खर्च को रुपया भेजा करते हैं।

मैंने दिन-भर शहर का चक्कर लगाया—सभी अनाथालयों में जाकर पूछा। कहीं भी कुमुद का पता न चला। मैं निराश होकर लौटने ही वाला था कि एक धर्मशाला के पुजारीजी से भेंट हो गई, जो सौभाग्य-वश वहीं आ पड़े। उन्होंने बताया, एक सेवाश्रम के मंत्रीजी पास में ही रहते हैं। उनका सेवाश्रम तो टूट गया है, लेकिन चार-पाँच अनाथ बच्चे उनके साथ ही घर पर रहते हैं। मैं मंत्रीजी के घर पहुँचकर उनसे मिला। पहले तो वह कुमुद का पता देने में आनाकानी करने लगे लेकिन जब मैंने बाबू हरिनारायण के पास से आने की बात बताई, तब उन्होंने कुमुद को बुलवा लिया। मैंने देखा, पाँच वर्ष की वह छोटी-सी बच्ची मजदूरों के बच्चों-जैसे फटे, मैले कपड़े पहने कुछ भयभीत-सी आ खड़ी हुई। मैंने मंत्रीजी से कहा—

"कुमुद को लेने आया हूँ।"

वह थोड़ा चकराए। फिर जब मैंने जेब से सौ-सौ रुपए के दो नोट निकालकर उनकी मुट्ठी में रख दिए, तब वह कुछ न बोले। मैं कुमुद को लेकर चल दिया। बाजार में आकर उसके लिये कुछ कपड़े खरीदे, नहलाया-धुलाया, और खिला-पिलाकर मैं तुरंत ही मोटर से पूना वापस लौट पड़ा।

कुमुद मुझसे थोड़ा डरती थी, लेकिन धीरे-धीरे मेरा-उसका परिचय दो-तीन दिन की यात्रा में बढ़ चला।

कुमुद से मैंने कौतूहल-वश पूछा—

"बेटी ! तुम्हारी मा कहाँ है ?"

उस भोलीभाली बालिका ने ऊपर की ओर उँगली उठाकर कहा—"मा मर गई !"

मेरी आंखों में आँसू आ गए। मैं समझ गया इस नन्हीं-सी बच्ची को शैवालिनी के पिता ने ऐसा ही सिखा दिया होगा।

अपने समाज की संकीर्ण मनोवृत्तियों का प्रतिफल मेरी आँखों के सामने था !

मैंने कुमुद को छाती से लगाकर प्यार करते हुए कहा—

"नहीं-नहीं कुमुद ! तुम्हारी मा पूना में है। मैं तुम्हारी मा के पास तुम्हें ले चलूँगा। चलोगी ?"

कुमुद ने सिर हिला दिया।

मेरी मोटर तीव्र गति से पहाड़ियों की चढ़ाई पार कर रही थी।

पूना वापस आने पर मैं उषा के मकान पर पहुँचा।

उसने कुमुद को देखकर कहा—

"भाई ! किसे ले आए ?"

मैंने कहा—

"पहचानो।"

मैं तो नहीं जानती—क्या आप की—?"

"हाँ-हाँ फ़िलाहाल ऐसा ही समझ लो।"

उषा के यहाँ मैंने और कुमुद ने चाय पी—जल-पान किया, फिर मैं शैवलिनी के घर की ओर चला। साढ़े नौ से कुछ अधिक समय हो गया था। शैवलिनी स्कूल जाने की तैयार में थी। ताँगा बाहर उसके आने की राह देख रहा था। मेरी मोटर का हॉर्न सुनकर वह भागती हुई जल्दी से नीचे आई, और बोली—

"कहाँ ग़ायब हो गए थे आप? आज हफ़्ते-भर से घर में ताला लगा है!"

मैंने बिना कुछ कहे हुए कुमुद को मोटर से उतार कर उसकी गोद में देते हुए कहा—

"पहले इसे लो—तुम्हारी कुमुद तुम्हें सौंप रहा हूँ!"

माता का हृदय एकाएक स्नेह से उमड़ पड़ा। मेरी बेटी! मेरी बच्ची! कहकर वह कुमुद को छाती से लगाए प्यार कर रही थी।

मैं धीरे से आकर फिर मोटर में बैठ गया। शैवलिनी ने पूछा—

"अभी आए अभी चल दिए?"

"मैंने रुकते-रुकते कहा—

"हाँ, आज का दिन—"

मैं आगे कुछ न कह सका।

"शैवलिनी बोली—"मेरे दूसरे प्रश्न का ध्यान है आप को?"

हाँ।"

"फिर उसका जवाब?"

मैंने एक बार उसकी ओर देखा, फिर आँखें नीची कर कहा—

"शैवलिनी! उसका जवाब—कुछ नहीं!"

ड्राइवर ने मेरा संकेत पाकर मोटर स्टार्ट कर दी। शैवलिनी अवाक् होकर देखती रह गई। मैं अपने को भूला हुआ-सा मोटर की पिछली सीट के सहारे लेट गया। ड्राइवर ने पूछा—

"किधर?"

मैंने उत्तर दिया—

"लखनऊ।"

अकस्मात्

[एक]

उस दिन—

खेत के किनारे, आम के एक घने वृक्ष की छाँह में, पत्तों का घर बनाकर मंगला ने कहा—

"रघु! देख, मेरा घर कितना सुंदर है!"

रघु ने देखा, देखकर हँसा, हँसकर मंगला को मुँह चिढ़ाते हुए बोला—

"बड़ा सुंदर है—हुँः!"

मंगला कुछ उदास हो गई। मानिक उसकी ओर देख रहा था, उसे हँसी न आई। वह भी दुखी हो गया, और सिर नीचा करके मिट्टी का घिरौंदा बनाने लगा। मंगला ने कुछ ठहरकर पूछा—

"मानिक ! क्या तुम्हें भी मेरा घर अच्छा नहीं लगा ?"
मानिक नीचे देखते-देखते बोला—
"अरी कहने दे रघु को। उसे समझ ही नहीं, निरा जंगली है। तेरा घर सौ में अच्छा, हज़ार में अच्छा, लाख में अच्छा और देख इधर—यह घिरौंदा घर के आगे फुलवारी लगाने को बनाया है, समझी ?"
मंगला हर्ष से फूल उठी। रघु गुस्से से मानिक की ओर देखता हुआ उठ खड़ा हुआ। पैर पटककर उसने कहा—
"जा-जा, बड़ा आया कहीं का शहरुआ ! मैं इससे अच्छे-अच्छे हज़ार घर बना सकता हूँ।"
मुँह फेरकर मंगला बोली—
"दिखाया नहीं एक भी बनाकर कभी।"
जलती आग में मानो घी पड़ गया ! रघु ने कड़ककर जवाब दिया—
"नौकर हूँ तेरे बाप का। मुझे क्या ग़रज़ पड़ी है, जो तेरा घर बनाऊँ।"
हवा के एक तेज़ झोंके ने अचानक मंगला का बनाया हुआ पत्तों का घर गिरा दिया। सब पत्ते हवा में इधर-उधर उड़ चले। मंगला चिल्ला उठी—
"अरे मेरा घर !"
मानिक दौड़-दौड़कर उन उड़ते हुए पत्तों को इकट्ठा कर रहा था। और रघु—रघु खड़े-खड़े ठठाकर हँस रहा था।

[दो]

दस बरस बीत गए।

विधाता के विधान के अनुसार मंगला का ब्याह रघु के साथ हो गया। रघु के जीवन में इस तरह आकर, क्या मंगला सुखी थी? रघु अब सयाना होकर समझदार हो गया था। मंगला से अब वह लड़ता न था—उसे प्यार करता था। गाँव की छोटा-मोटी खेती से उसका गुज़र चलता और समय से खेलता हुआ वह चैन से अपने दिन बिताता था। और, उसका बचपन का साथी मानिक? मानिक ने अपने मित्र के सुख में अपना सुख समझ जीवन की पहली चोट हँसते-हँसते सह लेने के बाद अपने को रघु के हाथों में अर्पित कर दिया था। अब रघु से उसकी लड़ाई न होती थी—दोनो में स्नेह का उफान था। और, दो हृदयों के लक्ष्य पर आनेवाली मंगला का जीवन मानिक के लिये और तथा रघु के लिये और था। 'भौजी'-जैसे प्यारे संबोधन से आनंद-विभोर हो जानेवाली वह स्नेहमयी आत्मा कुछ और ही थी। उनका वह छोटा-सा संसार इस संसार से अलग न होकर भी अलग था। इसे वे तीनो अच्छी तरह जानते थे—अनुभव करते थे।

बसंत-पंचमी के दिन—

साथ-साथ भोजन करते-करते मानिक बोला—

"भौजी! आज आलू की तरकारी बड़ी स्वादिष्ट बनी है!"

मंगला ने कहा—

"हाँ-हाँ, ऐसे ही हँसी उड़ाई जाती है भैया! नमक ज्यादा होगा न?"

रघु बोल उठा—

"मानिक! तुम तारीफ न किया करो, इन्हें बुरा लगता है।"

मंगला तिनककर कह उठी—

"लड़ाई लगाने को कोई इनसे कह दे—सुन रहे हो भैया! इनकी बातें।"

मानिक ने उत्तर दिया—

"कहने दो भौजी! इनकी बात सुनता ही कौन है।"

"न सुनो बाबा, तुमसे कौन माथा-पच्ची करे। दुलारे देवर की दुलारी भौजी! मुफ्त में बदनाम हूँ मैं—खामखाह।" रघु कह गया।

मंगला ने मुस्कराकर मानिक की थाली में दो पूरियाँ डालते हुए उसकी तरफ देखा। मानिक भी मुस्कराने लगा।

रघु की थाली में पूरियाँ डालते वक्त रघु ने मना कर दिया। मंगला बोली—

"क्यों? अभी खाया ही क्या है?"

"खा चुका।"

रघु उठकर हाथ-मुँह धो रहा था।

[तीन]

एक, दो, तीन, चार साल बीत चुके।

सूखा, अकाल और फिर अनावृष्टि! खाने तक का गाँव में

ठिकाना न रहा। मवेशी और मनुष्य, सभी भूखों मरने लगे। और, वह छोटा-सा परिवार? रघु पर क़र्ज़ हो गया—ज़मींदार और महाजन, दोनो का। मानिक के खेत भी उसके हाथों से निकल गए, और निकल गए उसके माता-पिता सदा के लिये उसके संसार से। काल-चक्र का वह फेरा उसे संसार में अकेला छोड़ गया। केवल रघु और मंगला के साथ उसके जीवन की घड़ियाँ जैसे-तैसे कटने लगीं!

फिर एक दिन—

दोपहर के समय नदी के किनारे बैठे-बैठे रघु ने उससे कहा—

"मानिक!"

मानिक ने देखा—रघु की आँखों में आँसू भरे थे। वह बोला—

"तुम रोते हो भाई?"

अपनी फटी हुई धोती के छोर से आँखें पोंछते हुए रघु ने उत्तर दिया—

"नहीं मानिक! मैं रोता नहीं।"

"बहाना न करो भाई! क्यों दुखी हो?"

"तुमसे एक बात कहनी थी, मानोगे?"

मानिक कुछ सोचने लगा। रघु ने फिर पूछा—

"मानोगे मेरा कहना मानिक?"

मंत्र-मुग्ध-सा मानिक कह गया—

"मानूँगा।"

"हाँ मानिक ! बड़ा जस मानूँगा तुम्हारा । बोलो, जाओगे कल ?"

"जाऊँगा ।"

रघु ने एक ठंडी साँस ली, और आँखें मीच लीं ।

मानिक सोचने लगा—

अब क्या करना चाहिए ? रघु को ऐसी हालत में बेसहारे छोड़ देना क्या ठीक होगा ? उसकी देख-भाल कौन करेगा ? कोई उसे एक घूँट पानी देनेवाला भी तो नहीं ! और मंगला—मंगला के कोई समाचार अब तक नहीं मिले । कैसी होगी वह ? उसे गाँव से ले आना । ठीक होगा या नहीं ? अगर उसे न लाऊँगा, तो रघु अपने मन में क्या कहेगा ?

भगवान् न करे, कहीं रघु की तबियत ज़्यादा ख़राब हो गई, तो ? नहीं रघु को छोड़कर जाना ठीक नहीं । मानिक ने निश्चय कर लिया ।

[पाँच]

पूरे बीस दिन और बीस रातें बीत चुकी थीं ।

मानिक की सेवा और दवा-दारू की बदौलत रघु अच्छा होकर फिर नौकरी पर जाने लगा था, मगर वह ज्यादातर चुप रहता । मानिक से भी कम बोलता ।

उसी दिन—

मिल के हाज़िरी के दफ़्तर में टँगे हुए फैक्टरी-ऐक्ट के चार्ट को वहीं का एक क्लर्क पढ़कर एक मज़दूर को सुना रहा था

रघु भी खड़ा-खड़ा, बीड़ी पीता हुआ, दरवाज़े के पास से सुन रहा था।

मज़दूर ने पूछा—

"बाबू साहब! अगर काम करते वक्त चोट-चपेट आ जाय और हम नाक़ाबिल होकर काम न कर पाएँ, तो ?"

क्लर्क ने जवाब दिया—

"तो तुम्हें पाँच सौ रुपया हर्जाना मालिक की तरफ़ से मिलेगा।"

रघु सोचने लगा—पाँच सौ रुपया!

मज़दूर ने पूछा—

"अच्छा बाबू! अगर हम मिल में काम करते हुए ऐसी चोट खा जायँ, जिससे मौत हो जाय, तो क्या मिलेगा ?"

क्लर्क बोला—

"मौत हो जाने पर तुम्हारे बाल-बच्चों को मिल के मालिक दो हज़ार रुपए देंगे, बशर्ते, काम करते वक्त ऐसी दुर्घटना हुई हो, तो।"

रघु सोचने लगा—दो हज़ार रुपए! यह तो बहुत बड़ी रक़म है।

इतने में जमादार ने बाहर से आकर उसे घूरकर देखा, और कहा—

"क्यों जी, तुम क्या कर रहे हो यहाँ ?"

रघु कुछ सकपकाकर बोला—

"तो मैं चला आऊँगा जरूर।"

"हाँ, चले आना भैया! तुम्हें आना ही पड़ेगा। सब महाजनों का रुपया चुका देना होगा।"

रघु चुप हो कर कुछ सोचने लगा।

मानिक ने कहा—

"चलो, दाग बन गई, अब खाना खा लो।"

रघु ने कहा—

"अच्छा चलो, आज हम-तुम एक ही थाली में खायँगे।"

"जैसे छोटे पर खाया करते थे?"

"हाँ, वैसे ही—बिलकुल वैसे ही।"

दोनो साथ-साथ भोजन करने बैठे। रघु की आँखों में जाने क्यों आँसू आ गए। मानिक ने देख लिया। वह बोल उठा—

"अजीब आदमी हो, जब देखो, तब रोना?"

रघु ने जवाब दिया—

"आज मन चाहता है रोने को, इसलिये रोता हूँ। मानिक! तुमने मेरे लिये बड़े दुख उठाए हैं।"

मानिक कुछ न समझ पाया।

[सात]

शाम को साढ़े पाँच बजे—

काम करते-करते रघु ने कहा—

"मानिक! जरा पानी पिलाओगे?"

मानिक पानी लेने चला गया। रघु ने इधर-उधर देखा—सभी

मज़दूर और कर्मचारी अपने काम में व्यस्त थे। उसने जल्दी से आगे बढ़कर मशीन की दाहनी ओर घूमता हुआ लोहे का चाक पकड़ लिया। छूते ही वह उसमें लिपट गया, और घूमते हुए चाक ने उसे उठाकर क़रीब बीस फ़ीट की दूरी पर, दूसरे बड़े चाक के ऊपर, फेक दिया। रघु की हड्डी-हड्डी चूर हो चुकी थी।

सभी काम करनेवाले सेकेंड-भर में होनेवाली इस दुर्घटना को देखकर आश्चर्य में पड़ गए। मशीनें बंद हुईं। सब कारीगरों और मज़दूरों की भीड़ लग गई।

मानिक जब पानी लेकर लौटा, तो उसने देखा—रघु का टुकड़े-टुकड़े कटा हुआ शरीर ज़मीन पर पड़ा था!

एक चीख़ उसके मुँह से निकली, और वह बेहोश होकर रघु की लाश पर गिर पड़ा।

सैकड़ों आँखें उसकी ओर देख रही थीं।

सैकड़ों मुँह यही कह रहे थे—

"बेचारा ग़रीब मज़दूर!"

जीते-जी किसी ने उस पर तरस न खाया था, और मरने के बाद—

एक अपराधी की भाँति गाँव पहुँचकर मानिक मंगला के आगे चुपचाप खड़ा था।

मंगला ने पूछा—

"क्यों ? चोर तो है भैया ?"

जवाब में अपने कुरते की जेब से हरे-हरे बीस नोट निकाल-कर मानिक ने मंगला के हाथ में रख दिए।

मंगला का हृदय कांप उठा—घबराकर वह बोली—

"और वह कहाँ है ?"

मानिक का गला भर आया। उसने धीरे से कहा—

"अकस्मात्—"

मानिक धम से उसी जगह गिर पड़ा! मंगला ठगी-सी चुप-चाप उसके पास बैठ गई। उसके सिर से ओढ़नी खिसककर गिर रही थी। हाथ की मुट्ठी खुली थी, और वे हरे-हरे काग़ज़ के टुकड़े हवा में उड़-उड़कर इधर-उधर बिखर रहे थे।

अधूरा मंदिर

[एक]

प्रतिमा अभी तक मुस्किराई न थी !

माधव सोचने लगा, क्या कमी रह गई ? फिर क्षण-भर बाद उसने अपनी हथौड़ी और टाँकी उठाकर स्फटिक की उस प्रतिमा की आँखों के नीचे कुछ भाव-रेखाएँ गहरी कर दीं—अधरोष्ठ और चिबुक के बीच में एक चिह्न-सा बना दिया, कपोलों पर छाया की रूपक कुछ रेखाएँ बनाईं—सचमुच फिर तो वह प्रतिमा मुस्किरा उठी।

माधव ने देखा, प्रतिमा की आँखों में मुस्कान ! होठों पर मुस्कान ! शरीर के प्रत्येक अवयव में मुस्कान ! उसके रोम-रोम में प्रसन्नता और संतोष की हिलोरें दौड़ने लगीं। उसने थोड़ा पीछे हटकर पार्श्व से उस प्रतिमा को देखा।

फिर पास से देखा—सजीवता का कैसा अनुरूप सामंजस्य था !

अपनी सफलता पर वह शिल्पी फूला न समाया। प्रतिमा की रूप-राशि ने उसे मुग्ध कर लिया।

उसने कहा—

"मैंने तुम्हें बनाया है प्रतिमे ! तुम मेरी हो न ?"

प्रतिमा मौन थी, शिल्पी उसे देख रहा था।

प्रातःकाल का उजाला धीरे-धीरे उसकी कोठरी में आ रहा था। रात-भर जला हुआ दीपक मलिन हो चला था। उसने उसे बुझा दिया, और खड़े होकर एक बार अँगड़ाई ली। कोई उसके पास आकर चुपचाप खड़ा हो गया।

माधव ने देखते ही कहा—

"अरे, तुम आ गईं मीरा ! देखो, मेरी प्रतिमा—वही, जो मैं इतने दिनों से बना रहा था, आज तैयार हो गई। कैसी—अच्छी है न ?"

मीरा ने देखा प्रतिमा को—फिर पति के उल्लास-भरे मुख को।

वह बोली—

"बहुत सुंदर।"

माधव हर्ष से उछल पड़ा।

बोला—

"सचमुच यह तुम्हें बहुत सुंदर लगती है मीरा ?"

"हाँ-हाँ, क्या सौगंद खिलाकर पूछना चाहते हो ?"

माधव कुछ लजाकर चुप हो गया। मीरा समझ गई। वह बोली—

"लेकिन इसे बेच भी सकोगे ?"

माधव आतुरता से कह उठा—

"क्यों नहीं, यह तो राजा-महाराजाओं के हाथ बिकेगी, बहुत-सा धन मिलेगा मीरा ! ढेर-सा धन—उतना, जितना पहले कभी नहीं मिला !"

"आशा है, पर विश्वास ?"

"विश्वास भी है। सब दिन एक-से नहीं जाते मीरा !"

मीरा ने एक ठंडी साँस ली। ग़रीबी के दिन उसे भूले न थे, और अचानक ही उसका भाग्य पलट सकेगा, इस पर उसे विश्वास न होता था। समय की विषम गति ने उसे सब कुछ सिखा दिया था। उसने माधव की ओर देखकर कहा—

"ईश्वर तुम्हें सफलता दें, और क्या कहूँ।"

वह घर के भीतर चली गई। माधव क्षण-भर सोचता रहा, फिर प्रतिमा के सामने जाकर बोला—

"प्रतिमे ! क्या तुम मेरा भाग्य बदल सकोगी ?"

प्रतिमा चुप थी। माधव उसकी ओर देख रहा था।

[दो]

सम्राट् के वसंतोत्सव की तैयारियाँ हो चुकी थीं। एक विराट्

प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। दूर-दूर से कलाकार अपनी वस्तुएँ लेकर आए, और निमंत्रित राजे-महाराजे पूरी भीड़-भीड़ के साथ उत्सव में सम्मिलित हुए। उस समारोह में समय बीतते देर न लगी। अंतिम दिन सम्राट् अपने मेहमानों के साथ प्रदर्शनी देखने आए।

एक कोने में शिल्पी माधव अपनी प्रतिमा के पास बैठा हुआ आने-जानेवालों को बड़ी उत्कंठा से देख रहा था।

इतने दिनों में सहस्रों व्यक्तियों ने उसकी प्रतिमा देखी थी। उसकी कला की प्रशंसा की थी। परंतु मूल्य पूछ-पूछकर चले गए थे। ग्राहकों के अभाव से माधव का हृदय बैठा जाता था। वह अंतिम दिन था, जब बड़ी आशा से वह सम्राट् के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था।

चित्रों और मूर्तियों की ओर देखते हुए सम्राट् उसके पास खड़े हो गए, और प्रतिमा देखने लगे।

माधव साँस रोककर उनके कुछ बोलने की प्रतीक्षा करने लगा। सम्राट् ने पास ही खड़े हुए कांबोज-नरेश की ओर देखकर कहा—

"कैसी लगी यह प्रतिमा आपको ?"

सम्राट् घूमकर देखने लगे। माधव ने सामने आकर अभिवादन किया।

कांबोज-नरेश बोले—

"सुंदर है, कलामय है।"

सम्राट् ने माधव की ओर संकेत करके कहा—

"मेरे राज्य के सबसे कुशल शिल्पी की यह कला-कृति है महाराज !"

माधव का हृदय खिल उठा।

कांबोज-नरेश ने मुस्किराकर कहा—

"सम्राट् के राज्य में ही कलाकारों का अभाव नहीं है, परंतु हमारे यहाँ—अच्छा, शिल्पी ! तुम यह प्रतिमा बेचोगे।"

माधव क्या उत्तर देता, वह सम्राट् की ओर देखने लगा।

सम्राट् उससे बोले—

"तुम्हारा सौभाग्य है, जो कांबोज-नरेश तुम्हारी प्रतिमा मोल ले रहे हैं।"

माधव बोला—

"सम्राट् की कृपा।"

कांबोज-नरेश व्यग्रता से बोले—

"शिल्पी, तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ?"

माधव सकपका गया।

फिर कहने लगा—

"हाँ महाराज, मैं समझा, आप इस प्रतिमा को लेना चाहते हैं ?"

"हाँ, क्या मूल्य माँगते हो ?"

"जो महाराज देने की कृपा करें।"

"तुम न बताओगे ?"

"नहीं, महाराज ! मैं आपकी प्रजा होकर..."

सम्राट् हँस पड़े।

बोले—

"कांबोज-नरेश! मेरी प्रजा ऐसी ही है।"

कांबोज-नरेश ने अपने अनुचरों को संकेत किया। एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ माधव के आगे बिखेर दी गईं।

प्रतिमा अनुचरों ने उठा ली।

माधव ने एक बार सतृष्ण नेत्रों से विदा होती हुई—सदा के लिये बिछुड़ती हुई—प्रतिमा को देखा, एक ठंडी साँस ली, फिर कांबोज-नरेश को अभिवादन किया।

वह स्वर्ण-मुद्राएँ कंधे की चादर के छोर में बाँधने लगा। सम्राट् और उनके साथी महाराज सब आगे बढ़ गए थे। पास के अन्य व्यवसायी माधव को बधाइयाँ दे रहे थे। माधव चुप था।

[तीन]

राजप्रासाद के एक कक्ष में कांबोज-नरेश कुछ चिंतित-से बैठे थे। सामने थी खरीदी हुई प्रतिमा।

सम्राट् ने प्रवेश किया। कांबोज-नरेश की गंभीर मुद्रा देखी, और देखा उस प्रतिमा को।

वह मुस्किराए और बोले—

"क्या सोच रहे हैं आप?"

कांबोज-नरेश ने सिर उठाकर देखा। सम्राट् की अभ्यर्थना के लिये उठते हुए उन्होंने कहा—

"कुछ नहीं महाराज !"

"कुछ तो ?"

"मेरा विचार है, इस बार देश लौटने पर एक...एक मंदिर बनवाऊँ।"

"हाँ, मंदिर—किस तरह का ?"

"यही सोच रहा हूँ। आप कुछ सहायता..."

"क्यों नहीं, आप अपने ही हैं, जो सहायता चाहें, मिलेगी।"

"सच कहते हैं आप—क्या वचन देते हैं ?"

"वचन देता हूँ।"

कांबोज-नरेश का मुख-मंडल उल्लास से चमक उठा। उन्होंने थोड़ा ठहरकर कहा—

"महाराज ! आपका इतना कहना ही मेरे लिये सब कुछ है। बस, इतनी सहायता कीजिए कि अपने राज्य के सर्वोत्कृष्ट कलाकार और शिल्पी मेरे राज्य में भेज दीजिए।"

"वाह ! यह कौन-सी बड़ी बात है।"

"मैं उन्हें उचित पारिश्रमिक दूँगा; और मंदिर का कार्य समाप्त होने पर वे पुनः आपकी सेवा में वापस आने को स्वतंत्र होंगे।"

"जैसा आप चाहें।"

"और, उस शिल्पी को मैं इन सब कलाकारों का मुखिया बनाऊँगा।"

कांबोज-नरेश की आँखें प्रतिमा की ओर उठ गईं, और वह धीरे-धीरे कहते गए—

"भविष्य किसने देखा है। और हाँ, मेरी बात छोड़ दो, क्या तुम्हें उस अभागी संतान की ममता भी नहीं, जो शीघ्र ही..."

मीरा बोल न सकी, उसका गला भर आया।

माधव ने देखा—आँसुओं में डूबती हुई वियोग की वेदना की एक छाया।

उसने एक ठंडी साँस लेकर कहा—

"मीरा! मत सोचो इतना सब, जीविका की समस्या हमें सुलझानी है। मै पुरुष हूँ। मेरा उत्तरदायित्व समझती हो? धीरज रखने के सिवा और मैं क्या कह सकता हूँ तुमसे?"

"धीरज? मीरा के लिये इस समय वह समझ से बाहर की बात है। माता के कर्तव्य में छिपी हुई ममता का आकर्षण मेरे लिये है, और तुम—तुम क्या जानो!"

माधव खड़ा-खड़ा सोचता रहा। फिर बोला—

"सब कुछ समझता हूँ मीरा! परंतु लाचारी..."

"ऐसा ही सही, पर क्या तुम्हें विश्वास है कि जिस कार्य के लिये तुम जा रहे हो, उसमें तुम्हें सफलता होगी?"

"सफलता? मैं कार्य में विश्वास रखता हूँ मीरा! परिणाम में नहीं।"

मीरा चुप हो गई।

माधव फिर अपनी तैयारी करने लगा। कुछ याद आया, लकड़ी का संदूक़ खोला, और एक थैली निकाली। मीरा के पास आकर उसके हाथों में देते हुए कहा—

"इसे रख लो।"

मीरा ने माधव के मुख की ओर देखा, फिर बोली—

"इसी सोने के बदले मेरा वियोग खरीद रहे हो?"

"नहीं—भाग्य!"

"फिर इसकी आवश्यकता मुझे न रहेगी तुम्हारे चले जाने पर।"

"क्यों?"

"ईश्वर ने मुझे भी हाथ-पाँव दिए हैं, साँझ तक मेहनत-मजूरी करके पेट भर लूँगी।"

"पर मेरे जीते-जी तुम्हें ऐसा करने की आवश्यकता?"

मीरा चुप हो गई। माधव के आँसू न रुके, वह रोते-रोते बोला—

"प्यारी मीरा! मुझे क्षमा करो। तुम बहुत दुखी हो गई?"

"नहीं, नहीं, तुम न रो—छिः-छिः!"

मीरा ने अपने आँचल से पति के आँसू पोंछे।

द्वार पर रथ के पहियों की गड़गड़ाहट सुनाई दी।

माधव चौंककर कपड़े पहनने लगा।

मीरा ने पूछा—

"कांबोज यहाँ से कितनी दूर है?"

माधव बोला—

"बहुत दूर—दो सहस्र कोस!"

"दो सहस्त्र कोस ? सचमुच, तुम इतनी दूर चले जाओगे माधव ?"

मीरा माधव के पास आकर खड़ी हो गई।

कांबोज-नरेश का अनुचर द्वार पर खड़ा हो गया आकर।

माधव ने पूछा—

"क्यों ?"

अनुचर ने उत्तर दिया—

"रथ तैयार है। चलिए।"

माधव ने मीरा की ओर देखकर कहा—

"तुम्हें ईश्वर को सौंपकर जा रहा हूँ मीरा !"

मीरा ने अपने मन का आवेग छिपाकर कहा—

"पर शीघ्र आना, मेरे लिये न सही, पर अपनी संतान के लिये—" "समझता हूँ मीरा ! मैं शीघ्र ही आऊँगा। लेकिन मुझे शुभ समाचार कब तक मिलेगा ?"

मीरा ने लजाकर सिर नीचा कर लिया।

माधव विदा माँग रहा था।

[पाँच]

बहुत दिनों बाद कांबोज-देश की राजधानी में कलाकारों की एक सेना-सी बाहर से आकर ठहर गई। उनका नेता, मुखिया, संचालक था—माधव।

राजप्रासाद की अट्टालिका से कांबोज-नरेश और उनकी महारानी दोनो देख रहे थे।

महारानी बोलीं—

"इतने लोगों को आमंत्रित किया है आपने ?"

महाराज गर्व से बोले—

"हाँ।"

"क्यों ?"

"गरुड़ध्वज का मंदिर क्या यों ही बनवाना चाहती हो इला ?"

"पर इतनी भीड़-भाड़ ! इसकी आवश्यकता ?"

इला, यह मंदिर मेरे जीवन-काल की एक अमर स्मृति बनकर संसार में रह सके, इसीलिये इतने शिल्पियों और कलाकारों को मैंने एकत्र किया है।"

"और, इसका व्यय ?"

"चिंता नहीं, मेरे राजकोष की अंतिम मुद्रा तक इस कार्य में लग जाय, तो भी मैं पीछे न हटूँगा। इला ! प्रभु के नाम पर मुझे यह अनुष्ठान करना ही है।"

"अवश्य महाराज परंतु..."

"परंतु क्या इला ?"

"आपकी इच्छा के अनुकूल कार्य करने की क्षमता, इतने शिल्पियों के नियंत्रण का भार और उसकी व्यवस्था ? कौन कर सकेगा ?"

कांबोज-नरेश हँस पड़े।

बोले—

"इधर आओ इला!"

इला का हाथ पकड़कर महाराज भीतर कक्ष में चले गए। एक सुंदर चौकी पर माधव की बनाई हुई प्रतिमा रक्खी थी, उसकी ओर संकेत करके उन्होंने कहा—

"देखो, यह प्रतिमा जिसने बनाई है, उसी को मैंने अपने मंदिर के निर्माण का सारा भार सौंपा है, सारे शिल्पी उसी की देख-रेख में कार्य करेंगे।"

महारानी उस प्रतिमा का सौंदर्य निहारती हुई एकटक खड़ी रह गईं।

महाराज ने पूछा—

'क्यों इला?"

"बहुत सुंदर है यह प्रतिमा। इसके निर्माता का नाम ?"

"माधव है उसका नाम इला! देखती हो, कितनी सजीवता है उसकी कला में!"

"सचमुच महाराज! अब मुझे विश्वास होता है कि मंदिर ठीक वैसा ही बनेगा—"

"जैसा तुमने स्वप्न में देखकर मुझसे कहा था।"

इला मुस्किरा दी।

कांबोज-नरेश ने उसके दोनो हाथ अपने हाथों में लेकर पूछा—

"क्यों इला! भला, हमारे जीवन-काल में ही हमारी यह इच्छा पूरी हो सकेगी?"

इला उनकी ओर देखती रह गई।

फिर बोली—

"ऐसा सोचने का कारण?"

"कारण? कुछ भी नहीं इला! मानव-कर्म का नियंत्रण किसके हाथ में है—जानती हो?"

"नहीं महाराज! आप—आप तो भगवान् गरुड़ध्वज की सेवा कर रहे हैं, फिर शंका और भय कैसा? जिनके प्रयोजन से मंदिर बन रहा है, वही हमें उसकी पूर्णता में सफलता देंगे।"

"इला! देखो, मैंने अपने मन की बात कह दी। मुझे यों ही कुछ—"

"नहीं महाराज! प्रभु मंगल करेंगे आपका। आप शतायु हों।"

"तो शिलान्यास का समारोह शीघ्र ही आरंभ होना चाहिए इला!"

"हाँ, शुभ कार्य में विलंब कैसा।"

महाराज कुछ सोचने लगे। इला ने प्रकाश की ओर देखकर एक ठंडी साँस ली।

[छ]

मंदिर का शिलान्यास-कार्य समाप्त होने पर कांबोज-नरेश ने माधव को साथ लेकर राजप्रासाद में प्रवेश किया। महामात्य ने आकर सूचना दी—

"श्रीमान्! गांधार-देश से एक प्रख्यात ज्योतिषी का आगमन हुआ है। महाराज से भेंट ..."

"हाँ-हाँ, अभी उसे ले आओ।"

महाराज ने उत्तर दिया, और भीतर अपने मंत्रणा-गृह में विराजमान हो गए।

कुछ देर सोचने के बाद कांबोज-नरेश ने कहा—

"माधव!"

"आज्ञा महाराज?"

"अब आज से मेरा उत्तरदायित्व समाप्त होता है, और..."

"...मेरा आरंभ होता है महाराज! विश्वास रखिए, देव-कार्य और आपकी सेवा, दोनों का लाभ मुझे मिलना है। अतएव मैं प्राण-पण से चेष्टा करके आपके आदेशानुसार मंदिर-निर्माण का कार्य संचालन करूँगा।"

"सम्राट् की जय हो!" कहते हुए ज्योतिषी ने प्रवेश किया, और अभिवादन के पश्चात् महाराज के संकेत से आसन ग्रहण किया।

महाराज ने पूछा—

"आपका नाम?"

"श्रीमन्! दास का नाम विशाख है। मैं गांधार-नरेश का राजज्योतिषी हूँ।"

"अच्छे समय पर आपका आगमन हुआ। भला, मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर आप गणना द्वारा बता सकेंगे?"

"क्यों नहीं श्रीमन्! मुझसे जो सेवा हो सकेगी, कभी मुँह न मोड़ूँगा। आज्ञा कीजिए।"

"अच्छी बात है।"

कांबोज-नरेश के मुख-मंडल पर गंभीरता की एक लहर छिपते-छिपते प्रकट हो गई।

वह कुछ ठहरकर बोले—

"मैं भगवान् गरुड़ध्वज का एक विशाल मंदिर बनवा रहा हूँ। वह इतना विशाल और भव्य होगा, जिसकी तुलना का कोई भी देवालय भारत में अभी तक नहीं बन सका, और उसकी रचना मेरी महारानी को स्वप्न में दिखाई दिए एक मंदिर के अनुरूप होगी।"

"बहुत सुंदर श्रीमन्!" ज्योतिषी बोला।

"लेकिन मुझे—आरंभ कर देने के बाद—अब ऐसा जान पड़ता है, मेरी यह इच्छा मेरे जीवन-काल में पूरी न हो सकेगी!"

ज्योतिषी बड़े ध्यान से महाराज की बातें सुन रहा था। महाराज कहते गए—

"तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या मेरी आशंका ठीक है, अथवा यह कार्य मेरे हाथों से निर्विघ्न समाप्त हो सकेगा? आप इसका विचार करें।"

"जैसी आज्ञा।"

ज्योतिषी विशाख ने अपने थैले से पंचांग, भोज-पत्र, लेखनी,

मसि-पात्र आदि निकालकर सामने रक्खे, और महाराज की जन्म-तिथि पूछने के बाद गणना-कार्य आरंभ किया।

माधव बड़े कौतूहल और उत्सुकता से यह सब देख रहा था। उसने पिछले कई दिनों से कांबोज-नरेश को चिंतित देखा था, परंतु कारण पूछने का उसे साहस न होता था। आज अनायास ही सारी बात खुल गई। वह ज्योतिषी के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

थोड़ी देर बाद ज्योतिषी ने कहा—

"महाराज! आप चिरजीवी हों। मेरी गणना से जो कुछ स्पष्ट होता है, क्या निवेदन करने की आज्ञा है मुझे?"

महाराज ने उत्तर दिया—

"निस्संदेह, आप सत्य-सत्य मुझे सारी बातें बताते जायँ।"

"सत्य ही कहूँगा श्रीमन्! देखिए—आपने देव-कार्य का आरंभ बड़े ही शुभ अवसर पर किया है, और आप बड़े उत्साह से उसे संपन्न करने का प्रयत्न भी करेंगे। है न ठीक श्रीमन्?"

"हाँ, ठीक है—आगे?"

"आगे—श्रीमन्! आज से ठीक सोलह वर्ष बाद..."

"सोलह वर्ष बाद? ऊँह, उसकी चिंता न कीजिए। तब तक तो मंदिर बनकर तैयार भी हो चुकेगा।"

"श्रीमन्! ऐसा न होगा, जो आप सोचते हैं। मैं कह रहा था—आज से सोलह वर्ष बाद—एक निरपराध युवक की

इसी मंदिर में अचानक हत्या होगी, और उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा महाराज !"

"क्या होगा ?"

"उस हत्या के ठीक दूसरे दिन मंगल-ग्रह से टक्कर खाकर एक दूसरा ग्रह टूटेगा, और उल्का-पात के सदृश वह विध्वंसक ग्रह आपके कांबोज-देश पर सीधा आ गिरेगा, जिससे आपके राज्य का सर्वनाश हो जायगा। आप और आपकी प्रजा, कुटुंब, राजप्रासाद आदि सब कुछ धूल में मिल जायँगे। केवल यही आपका मंदिर—अधूरा मंदिर—भारतवर्ष में उस सर्वनाश की कथा कहने के लिये जैसे-का-तैसा खड़ा रह जायगा।"

ज्योतिषी विशाख चुप हो गया।

महाराज कुछ सोचने लगे। विशाख ने कहा—

"श्रीमन् ! यही ज्योतिष-शास्त्र का कथन है। और, कदापि झूठा न होगा।"

महाराज बोले—

"इसका उपाय ?"

"उपाय ? केवल एक ही—आज से सोलह वर्ष बाद—आप एक निरपराध युवक की प्राण-रक्षा का प्रबंध कर सकें, तो—परंतु महाराज ! भावी अटल है।"

महाराज ने थोड़ा ठहरकर उत्तर दिया—

"परंतु मैं जो निश्चय कर चुका, सो कर चुका, अब तो यह मंदिर बनकर ही रहेगा, चाहे जो भी परिणाम हो।"

माधव ने सब कुछ सुनने के बाद एक ठंडी साँस ली।

कैसा भयानक चित्र था, जो भविष्य की छाया लेकर ज्योतिषी के शब्दों में सजीव हो उठा था।

वह सोच रहा था—सोलह वर्ष बाद!...फिर?

[सात]

सोलह वर्ष बाद—

कांबोज-देश से दो सहस्र कोस की दूरी पर—

अपने जीर्ण-शीर्ण घर में...देवता के पूजन में निरत मीरा ने सुना—कोई पुकार रहा था—

"मा, अरी मा, द्वार खोल।"

मीरा ने उठकर द्वार खोला। अँगोछे में बहुत-से फल लिए हुए मन्नू आया था।

मीरा ने पूछा—

"बड़ी देर हुई बेटा, अभी भोजन भी नहीं किया तूने?"

मन्नू ने हँसकर उत्तर दिया—

"तू तो सदा ऐसे ही कहा करती है। अच्छा चल, खिला मुझे।"

मा ने थाली परोसी, बेटा खाने बैठा। सुख की उन दो घड़ियों में—अचानक—मीरा की आँखों में आँसू भर आए। उन्हें आँचल से पोंछते हुए मन्नू ने देख लिया। हाथ का ग्रास हाथ में ही रहा।

वह बोला—

"क्या हुआ मा? तू रोती है?"

"नहीं, नहीं बेटा।"

मन्नू ने खाने से हाथ खींच लिया, और कहा—

"ऐसे नहीं बताएगी, ले, जाता हूँ।"

पानी का घूँट पीकर मन्नू उठ खड़ा हुआ। मा की ममता विकल हो उठी।

मीरा ने कहा—

"क्या बताऊ बेटा!"

"तू आज रोई क्यों? देख, सच-सच बताना होगा।"

मीरा ने उसके मुख-मंडल पर दृष्टि डाली। मन्नू के हृदय की व्याकुलता चमक उठी।

मीरा ने कहा—

"बेटा, आज मुझे तेरे पिता की याद आई। वह कहाँ होंगे? कैसे होंगे? इतने वर्षों से उनके कुछ समाचार नहीं मिले। तुझे ही देख-देखकर जीती हुई मैं जब उनकी बात सोचती हूँ, तो—तो बेटा..."

मीरा का कंठ रुद्ध हो गया, वह कुछ कह न सकी। मौन आँखें आँसू बरसाने लगीं।

मा का दुःख देखकर मन्नू भी रो पड़ा।

वह बोला—

'नहीं मा, ऐसी दुखी होकर तो तू जी भी न सकेगी। प्रभु की दया से पिताजी अच्छे होंगे, कुशल से होंगे, और—और मा, वह बहुत जल्द हमारे पास लौट आएँगे।"

"तू क्या जाने मन्नू ! वह बहुत दूर चले गए हैं। यहाँ से दो सहस्र कोस पर है कांबोज-देश, यह भी पता है तुझे ?"

"दो सहस्र कोस पर है कांबोज-देश !"

मंत्र-मुग्ध-सा मन्नू ऊपर का वाक्य दुहरा गया—कुछ सोचता रहा, फिर बोला—

"मा, तुझे पिताजी की सचमुच याद आई है ?"

"हाँ मन्नू !"

"और—मैंने अब तक—इतने वर्षों तक देखा भी नहीं उन्हें एक बार, क्यों मा ?"

"तेरा दुर्भाग्य, मेरे लाल !"

"तो मा ! मैंने एक बात सोची है—कहूँ ?"

"हाँ।"

"मैं जो कुछ कहूँ, वह मानेगी तू ?"

"क्या ?"

"पहले 'हाँ' कर।"

"हाँ बेटा, मानूँगी।"

"मेरी सौगंद खाकर कहती है ?"

"हाँ, बता तो ?"

"मुझे जाने दे पिताजी के पास, उन्हें—उन्हें ज़रूर-ज़रूर वापस लाऊँगा।"

"नहीं बेटे ! इतनी दूर अकेला तुझे कैसे जाने दूँ ?"

"याद कर मेरी सौगंद—नहीं मानेगी तू ?"

मीरा चुप हो गई। उसकी आँखों से आँसू वह रहे थे। उसने कहा—

"बेटा, भोजन तो कर ले।"

"लेकिन मा, मुझे यह भी वचन दे कि आज से तू न रोएगी।"

"नहीं रोऊँगी मेरे लाल!"

"ला, तो फिर अपने हाथ से मुझे आज भरपेट खिला दे। वड़ी अच्छी है मेरी मा!"

मीरा अपने हाथों मन्नू को खिलाने लगी।

उसी दिन—संध्या-समय—मन्नू अपनी मा से विदा माँगकर कांवोज-देश की यात्रा के लिये चल पड़ा।

[आठ]

गरुड़ध्वज का विशाल मंदिर तीन चौथाई के लगभग बनकर तैयार हो चुका था।

मुख्याधिकारी माधव ने अपने जीवन के सोलह बहुमूल्य वर्षों के उस यशस्वी प्रयास को आँखें भरकर देखा!

उस गगनचुंबी मंदिर की कलामय रचना पर अनायास ही उसका मस्तक ऊँचा हो उठा।

पास खड़े हुए एक सहकारी शिल्पी से उसने कहा—

"चारुदत्त! अब तो बहुत जल्द यहाँ से छुट्टी मिल जायगी। घर की याद क्या तुम्हें भी आती है?"

चारुदत्त ने मंदिर की ओर देखा, फिर बोला—

"श्रीमन् ! आप-जैसे सुदक्ष कलाकार के अनवरत परिश्रम का फल सचमुच मूर्तिमान् हो चला है ! आपके सहयोग और सहानुभूति में हम सब अपने को भूलकर काम करते रहे। अब आपकी कृपा होने पर—अनुमति मिलने पर—बाल-बच्चों के पास हम लोग पुनः लौट सकेंगे, ऐसा विश्वास तो अवश्य होता है।"

माधव मुस्किराया, फिर कहने लगा—

"भाई ! मैं तो तुममें से ही एक हूँ, तुम्हारे सुख-दुःख का सदैव साथी रहा हूँ। मेरी कीर्ति भी तो तुम्हारी ही है। हम लोग अपने कर्तव्य का पालन कर सके हैं, और उसका पुरस्कार..."

"पुरस्कार—आपकी दयादृष्टि-मात्र ! और हमें कुछ न चाहिए श्रीमन् !"

"पर चारुदत्त, उस ज्योतिषी की भविष्य-वाणी सोचकर मेरा हृदय काँप उठता है। कभी-कभी सोचता हूँ कि......"

माधव सामने देखने लगा।

एक युवक धीरे-धीरे उसी ओर चला आ रहा था।

पास आने पर उसने पूछा—

"मुख्याधिकारी कहाँ मिलेंगे ? मैं उनसे भेंट करना चाहता हूँ?"

चारुदत्त ने पूछा—

"किसलिये ? नौकरी चाहिए ?"

"नहीं।"

"कोई समाचार लाए हो ?"

"हाँ। मगर उन्हीं से मुझे मिलना है। वह कहाँ होंगे, बताने की कृपा करें।"

माधव से न रहा गया। युवक की बातें सुनते-सुनते उसका हृदय किसी अज्ञात प्रेरणा से आकुल हो उठा था। उसके मन में बहुत-से विचारों की सृष्टि हो चुकी थी। वह आगे बढ़ा, और बोला—

"युवक ! तुम्हारा नाम ?"

"मन्नू। मैं मुख्याधिकारी माधव शिल्पी का……"

बात काटकर माधव जोर से बोला—

"बेटा !"

उसने आगे बढ़कर मन्नू को छाती से लगा लिया।

उसकी आँखों से आँसू बह चले।

मन्नू ने कहा—

"पिता, रो मत। किसी अज्ञात देवता की भाँति मैंने तुम्हें पा लिया है। अब तुम्हें मेरे साथ घर वापस चलना होगा। मा की दशा..."

माधव घबराकर बोला—

"मा की दशा—वह अच्छी तो है न बेटा ?"

"हाँ, शरीर से ही, मन से नहीं। पूरे सोलह वर्षों की लंबी अवधि के बाद उसकी आत्मा का दुःख साकार रूप में तुम्हारे सम्मुख आया है पिता ! अब तुम्हें शीघ्र ही घर चलना होगा।"

माधव चुप था।

मन्नू ने आतुरता से कहा—

"बोलते क्यों नहीं पिता?"

"तू नहीं समझता बेटा!"

"क्यों? क्या घर न लौटोगे?"

"लौटूँगा। परंतु..."

"परंतु?"

माधव ने एक बार मंदिर की ऊँचाई की ओर दृष्टि डालकर ठंडी साँस ली, फिर कहा—

"गरुड़ध्वज का मंदिर पूरा हो जाने पर ही मैं घर वापस लौटूँगा।"

मन्नू व्यग्रता से बोला—

"कितने दिनों में पूरा होगा मंदिर, पिता?"

"थोड़ा कार्य अवशेष है। उसे शीघ्र ही हम लोग पूरा करेंगे।"

"तो मैं भी साथ रहूँगा, और तुम्हारा काम करूँगा पिता! मैं वापस लौट जाने के लिये नहीं आया हूँ। जाऊँगा, तो तुम्हें साथ लेकर। मुझे अपने पास रक्खोगे?"

माधव ने मन्नू को छाती से लगाकर कहा—

"क्यों नहीं, बेटा! मेरे लाल!"

[नौ]

कुछ दिनों बाद—

जब नियति माधव के जीवन के इतिहास का एक नया पृष्ठ

लिख रही थी, तब—रात्रि के समय—शिव-मंदिर में ध्यानस्थ युवक मन्नू की आँखें अंतरात्मा के दिव्य रूप का दर्शन पा रही थीं।

वह बड़ी देर से उसी प्रकार एक आसन से, एक ही मुद्रा से, बैठा था।

अचानक मंदिर का टिमटिमाता दीपक एक बार ज़ोर से जल उठा, फिर दूसरे ही क्षण बुझ गया। चारो ओर अंधकार छा गया। परंतु मन्नू निश्चल था।

इतने में उसने सुनी अपनी आत्मा की पुकार।

कोई उससे कह रहा था—

"जा, तेरा उद्देश्य पूर्ण होगा।"

मन्नू ने विश्वास न किया। वह फिर ध्यानस्थ हो गया।

किसी ने फिर कहा—

"जा, जो कुछ तू चाहता था, तुझे मिल गया।"

इस बार मन्नू ने साहस कर पूछा—

"क्या सचमुच मुझे वह शक्ति मिल गई? देवाधिदेव! क्या मेरी प्रार्थना आपने स्वीकार कर ली? क्या मेरे हाथों में कलाकार की क्षमता आ गई? बोलो देव! एक बार कहो।"

शिव-मूर्ति मौन थी।

मन्नू ने सिर नवाया, नीर आँखों से लगाया, और उठ खड़ा हुआ।

प्रतिदिन की भाँति वह गरुड़ध्वज के बनते हुए मंदिर की

ओर चल दिया, और उसकी सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ पूरी उँचाई पर जा पहुँचा। उसकी हथौड़ी, छेनी, जुड़ाई का सामान सब कुछ यथास्थान रक्खा था। उसने काम आरंभ कर दिया। रात्रि की उस शून्यता में आज उसके हाथों में असाधारण लाघवता और स्फूर्ति आ गई थी।

ईंट पर ईंट जोड़ते-जोड़ते सवेरे तक उसने बहुत-सा काम समाप्त कर दिया! आकाश में तारों के दीपक धीरे-धीरे बुझ चले थे। नीलिमा को श्वेतता विदा दे रही थी। सारी रात के परिश्रम से आज तो मन्नू को थकावट भी नहीं, नींद भी नहीं। मंदिर से नीचे आकर उसने देखा सचमुच एक कौतुक!

उसने पिछली रात में इतना कार्य अकेले कर डाला था, जिसे सैकड़ों शिल्पी महीनों में भी न कर सके थे।

मन्नू ने सोचा, देवाधिदेव महादेव ने मेरी प्रार्थना सुन ली। वह हर्ष से फूला न समाया—अब तो शीघ्र ही वह अपने पिता को साथ लेकर घर वापस लौट सकेगा! आँसुओं से भीगा हुआ माता का मुख-मंडल उसकी आँखों के सामने घूम गया। उसने शिव-मंदिर की ओर सिर झुकाकर प्रणाम किया, फिर चल दिया। शिविर में धीरे से परदा उठाकर मन्नू भीतर घुसा।

माधव यथावत् सो रहा था, जैसा मन्नू ने उसे सोता छोड़ा था।

मन्नू भी चुपचाप बिछौने पर जाकर लेट गया। उसकी आँखें झिप गईं।

वह एक स्वप्न देखने लगा। उसने देखा—एक बड़ा सुंदर सरोवर है, जिसमें बहुत-से लाल कमल खिले हैं, बीच में एक बड़ा भारी कमल है। वह उसे तोड़ने के लिये तालाब में उतरा है। पानी अधिक गहरा होता जाता है, परंतु वह बराबर आगे बढ़ता हुआ कमल के बिलकुल पास पहुँच गया है। उसने हाथ बढ़ाकर कमल तोड़ना चाहा, परंतु वह और भी दूर हो गया। वह और आगे बढ़ा, पानी उसके गले तक आ गया, लेकिन कमल अब उसने छू लिया। वह उसे तोड़ने लगा। इतने में उसे एक चीत्कार—बड़ा ही करुण चीत्कार—सुनाई दिया। वह शब्द किसी परिचित कंठ का था—उसने पहचान लिया—उसकी मा की पुकार! वह अचानक पीछे लौटा, लेकिन उसका पैर फिसल गया। वह सरोवर में डूबने लगा। बरबस उसके मुँह से एक कातरता-भरी चीख निकल गई।

मन्नू ज़ोर से चिल्लाकर जाग पड़ा।

सवेरे का उजाला शिविर में प्रवेश कर रहा था। माधव स्नान-पूजा से निवृत्ति पाकर, कपड़े पहनकर तैयार हो रहा था। मन्नू की आवाज़ सुनकर उसने कहा—

"क्या हुआ बेटा ?"

मन्नू सकपकाकर उठ बैठा। उसका सारा शरीर पसीने से लथ-पथ हो रहा था। उसने सकपकाते हुए उत्तर दिया—

"कुछ नहीं पिता! मैं—मैंने एक अच्छा-बुरा सपना देखा आज।"

"भगवान् गरुड़ध्वज मंगल करेंगे, बेटा! चलो, आज तू बहुत सोया।"

आगे-आगे माधव, पीछे-पीछे मन्नू शिविर से बाहर आए।

मन्नू की दृष्टि में एक नया संसार था।

और माधव—वह किसी चिंता में खोया हुआ-सा कुछ सोच रहा था।

फिर?

[दस]

कांबोज-नरेश ने छत्र और ध्वजा माधव को सौंपते हुए कहा—

"माधव! भगवान् गरुड़ध्वज का मंदिर अब तो तैयारी के निकट ही है न? लो, इन वस्तुओं को तुम सँभालो।"

माधव ने सिर झुकाकर सम्राट् को अभिवादन किया, और छत्र तथा ध्वजा लेकर मंदिर की ओर चला।

वहाँ उसने देखा, रंग कुछ बदला हुआ था। कोई भी शिल्पी और मजदूर काम नहीं कर रहा था। सब-के-सब दस-दस, पन्द्रह-पंद्रह की टुकड़ियों में इधर-उधर बैठे हुए कुछ उत्तेजित-से आपस में बातें कर रहे थे।

माधव के निकट आते ही सब चुप हो गए!

माधव ने पुकारा—

"चारुदत्त!"

चारुदत्त ने पास आकर अभिवादन करते हुए कहा—

"आज्ञा मुख्याधिकारी !"

"यह क्या मामला है आज ? काम क्यों नहीं आरंभ किया गया ?"

चारुदत्त ने चुपचाप मंदिर के शिखर की ओर संकेत करते हुए कहा—

"उधर देखिए।"

माधव ने देखा—यह क्या ! कल संध्या तक जो काम करके शिल्पियों ने विश्राम लिया था, आज सवेरे उससे कहीं ज्यादा भाग मंदिर का तैयार था !

वह आश्चर्य-चकित हो गया।

चारुदत्त ने कहा—

"सब लोग कहते हैं कि हम लोगों में संभवतः कुछ लोग षड्यंत्र करके गुप्त रीति से रात में काम करते हैं, नहीं तो मंदिर क्या अपने आप इतना बन जाता ?"

माधव की समझ में कुछ न आया, यह बात क्या हुई ? वह बड़ी चिंता में पड़ गया।

बोला—

"चारुदत्त ! सब लोगों से कहो, कार्य आरंभ करें। मैं इसका पता लगाऊँगा कि कौन लोग ऐसा षड्यंत्र कर रहे हैं।"

चारुदत्त ने उत्तर दिया—

"नहीं मुख्याधिकारी ! जब तक आप स्वयं सबको आश्वासन

न देंगे, तब तक ये लोग कदापि काम न करेंगे। आप ही सोचिए इसमें।"

मजदूर पीछे हट गया।

माधव ने आगे बढ़कर ज़ोर से कहा—

"भाइयो! मुझे यह घटना जानकर बड़ा दुःख है। मैं उसका पता लगाऊँगा कि दोषी कौन है। लेकिन आप अपना कार्य आरंभ करें।"

सब लोग आकर माधव के चारों ओर एकत्र हो गए। एक बोला—

"कभी नहीं, आपको इस षड्यंत्र का पता लगाना होगा। पहले दोषी को दंड देना होगा, तभी हम लोग कार्य आरंभ करेंगे।"

दूसरा बोला—

"हम सबसे पहले यही जानना चाहते हैं कि हमारी जीविका पर छुरी चलानेवाला वह कौन व्यक्ति है, जिसने हमारे कार्य की गति में बाधा डाली है, और हम उसे कभी जीता न छोड़ेंगे।"

माधव ने कहा—

"भाइयो! मैं स्वयं नहीं जानता कि किसने ऐसी नीचता का काम किया है। जान लेने पर मैं ही उसे उचित दंड दूँगा।"

एक व्यक्ति ने कहा—

"प्रतिज्ञा कीजिए।"

आवाज़ आई—

"शपथ लीजिए।"

किसी ने कहा—

"मुख्याधिकारी, जितना कार्य प्रतिदिन करते हुए हम लोग आगे बढ़ रहे हैं, उससे सौगुना कार्य एक रात में ही किसी ने कर डाला है। यदि महाराज तक यह बात पहुँच गई, तो हम लोगों की कितनी बदनामी होगी, क्या आप नहीं सोचते ?"

माधव ने उत्तर दिया—

"आप ठीक कहते हैं। परंतु मंदिर पूर्ण करने का उद्देश्य हमारा भी है, अतएव जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ।"

चारुदत्त गरजकर बोला—

"अच्छा ही हुआ ? यह कैसे आप कहते हैं मुख्याधिकारी ? हमारी जीविका पर कुठाराघात करनेवाले व्यक्तियों का यह पक्षपात ? आपका यह विद्रोह ?"

माधव ने डाँटकर कहा—

"सावधान! चारुदत्त, सीमा से आगे न बढ़ो। मैं मुख्याधिकारी हूँ।"

किसी ने कहा—

"लेकिन हमारे बनाए हुए।"

आवाज़ें आने लगीं—

"हमारे परिश्रम और सहयोग पर।"

"हमारी एकता पर।"

"कौन ?"

काले आवरण से अपना मुँह खोलते हुए वह छाया बोल उठी—

"आपका सेवक चारुदत्त। उठिए मुख्याधिकारी, आज रात को हम लोग मंदिर का पहरा देंगे, ऐसा ही निश्चय किया गया है।"

माधव उठ खड़ा हुआ। एक पतला-सा उत्तरीय कंधे पर डालकर वह चलने लगा। दीपक के धुँधले प्रकाश में उसने मन्नू के बिछौने की ओर दृष्टि डाली। कुछ स्पष्ट न दिखाई दिया। हाँ, ऐसा ज्ञात हुआ, मन्नू सो रहा है।

वह चारुदत्त के साथ बाहर आया। उसकी बाईं आँख फड़कने लगी।

वह क्षण-भर ठहर गया।

चारुदत्त ने कहा—

"चलिए, ठहर क्यों गए ?"

माधव चल दिया।

मंदिर की सीढ़ियों पर बड़ी सतर्कता से दबे पाँव चढ़ते हुए वे दोनो शिखर पर जा पहुँचे।

की आड़ में छिपकर देखने लगा—सचमुच एक मनुष्य बैठा हुआ बड़ी तत्परता से पत्थर की ईंटें जोड़ रहा था। अँधेरे में माधव कुछ न जान सका कि है कौन ?

इतने में फिर उसकी बाईं आँख फड़की! वह पीछे हटकर चारुदत्त के पास आ गया।

चारुदत्त ने पूछा—

"क्या देखा ? कोई है ?"

माधव ने धीरे से सिर हिलाकर कहा—

"हाँ।"

चारुदत्त ने हाथ पीछे करके संकेत किया। पत्थर की उन भीतों की आड़ से लगभग बीस मज़दूर और शिल्पी निकल आए।

माधव ने देखा—काली-काली अनेक मूर्तियाँ!

चारुदत्त ने कहा—

"मुख्याधिकारी, अपना वचन पूरा कीजिए। यह अपराधी व्यक्ति कोई भी हो, इसे दंड मिलना ही चाहिए।"

माधव ने गंभीरता से कहा—

"अवश्य।"

"फिर, अब देर कैसी ? इसे चुपचाप पीछे से जाकर ढकेल दीजिए। सैकड़ों गज़ नीचे गिरने पर इसकी अस्थियों का भी पता न मिलेगा। बढ़िए आगे।"

माधव ने कुछ सोचकर कहा—

"परंतु यह हत्या ? यह पाप ?"

चारुदत्त क्रोध से बोला—

"मुख्याधिकारी, हत्या और पाप की व्याख्या करने का समय नहीं। यह है प्रतिशोध—बदला।"

"लेकिन चारुत्त। यह भयंकर पाप होगा !"

"मुख्याधिकारी, हम दो सहस्र व्यक्तियों की जीविका पर छुरी चलाना क्या पाप नहीं ? बोलिए, एक के प्राण अधिक मूल्यवान् हैं या दो सहस्र के ?"

माधव चुप हो गया।

चारुदत्त ने कहा—

"मुख्याधिकारी, आगे बढ़िए, फेंक दीजिए इस नारकी कीट को नीचे।"

मंत्र-मुग्ध-सा माधव आगे बढ़ा। उसकी गति कार्यकर्ता का लक्ष्य न था। वह अपने काम में निरत था। माधव के हाथों ने उसे आगे को धक्का दे दिया—पर धीरे से।

वह उठ खड़ा हुआ और घूम पड़ा।

अकस्मात् बिजली चमकी। दोनो ने एक दूसरे को देखा। फिर माधव ने पीछे देखा—बीस मूर्तियाँ विद्रोही बनकर उसे घूर रही थीं।

चारुदत्त अपनी कटि से एक चमचमाता हुआ छुरा निकाल रहा था ! उसकी आवाज़ गूँज उठी—

"मुख्याधिकारी !"

माधव ने आगे बढ़कर दोनो हाथों से सामने खड़े व्यक्ति को मंदिर के शिखर से नीचे ढकेल दिया।

गिरते-गिरते उसने कहा—

"पिता, तुम ?"

माधव मूर्च्छित होकर गिर पड़ा !

इतने में आकाश में बड़े ज़ोर से सहस्रों उल्कापात-सदृश उजाला फैल गया, और एक घोर शब्द के साथ सारा मंदिर हिल उठा।

माधव की मूर्च्छित देह उठाकर चारुदत्त अपने साथियों-सहित नीचे ला रहा था। और एक प्रलयकारिणी आँधी कांबोज-देश को निगलने के लिये गरजती हुई चली आ रही थी। ज्योतिषी की भविष्य-वाणी पूरी होने को थी।

कांबोज-देश के खँडहरों में वह 'अधूरा मंदिर' एकाकी खड़ा हुआ अपनी कथा कहा करता है। उसके पास ही एक चबूतरा है, जिसके किनारे तुलसी का एक बड़ा घना वृक्ष लगा है। प्रत्येक अमावस्या को, जाने कहाँ से आकर, एक श्वेत-वसना स्त्री उस तुलसी-वृक्ष के नीचे चबूतरे पर दो छोटे-छोटे दीपक जला जाती है।

लोगों ने उसे देखा है, लेकिन उसके जीवन को नहीं।
